

# आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः

ग्रन्थाङ्कः ७

सटीकाद्वयशांकरभाष्योपेता

## काठकोपनिषत् ।

सेयं

मास्टर ऑफ् आर्ट्स् इत्युपपदधारिभिः फर्ग्युसनकॉलेजस्थ-  
संस्कृतभाषाध्यापकैः ' राजवाडे ' इत्युपाह्वै-  
र्वैजनाथशर्मभिः संशोधिता ।

सा च

बी. ए. इत्युपपदधारिभिः

## विनायक गणेश आपटे

इत्येतैः

पुण्याख्यपत्तनं

श्रीमन् ' महादेव चिमगाजी आपटे ' इत्यभिधेय-  
महाभागप्रतिष्ठापिते

## आनन्दाश्रममुद्रणालये

आयसाक्षरैर्मुद्रयित्वा

प्रकाशिता

सप्तमं यमङ्कनावृत्तिः ।

शालिवाहनशकाब्दाः १८५७ ।

ख्रिस्ताब्दाः १९२९ ।

( अस्य सर्वे अधिकारा राजशासनानुसरेण स्वायत्तीकृताः ) ।

मूल्यं सपादेको रूपकः (१४४) ।



## आदर्शपुस्तकोल्लेखपत्रिका ।



अस्य ग्रन्थस्य संस्करणे ' महादेव चिमणाजी आपटे ' इत्येतेः प्रेषितानि यानि मुद्रितहस्तलिखितपुस्तकानि क. ख. इत्याद्यक्षरैरङ्कितान्युपयुक्तानि तेषु—

'क' इतिसंज्ञितं पुस्तकम्—कलिकातायां ' विब्लीओथिका इण्डिका ' इति ग्रन्थावल्यां मुद्रितं कै० वे० शा० सं० बालशास्त्री देव इत्येतेषामधिकारिभ्योऽधिगतम् ।

'ख' इतिसंज्ञितम्—इन्दुरवासिभ्यां किबेकुलोत्पन्नाभ्यां भाऊसाहेब बाळासाहेब इत्येताभ्यामधिगतम् ।

'ग' 'घ' इतिसंज्ञिते द्वे—रावसाहेब विंचुरकर इत्येतेभ्योऽधिगते ।

'ङ' 'च' इतिसंज्ञिते द्वे—पुण्यनगरवासिभ्यः श्रीगुरुमहाराज इत्येतेभ्योऽधिगते ।

'छ' इतिसंज्ञितम्—भाऊसाहेब नगरकर इत्येतेभ्योऽधिगतम् ।

'ज' इतिसंज्ञितम्—कोल्हापुरवासिभ्यः श्रीगुरुमहाराज इत्येतेभ्योऽधिगतम् ।

'झ' इतिसंज्ञितम्—काश्यां मुद्रितं रा० रा० आपटे इत्येतेभ्योऽधिगतम् ।

'ञ' इतिसंज्ञितम्—वटोदरनिवासिभ्यः ' कृष्णराव भीमार्शकर ' इत्येतेभ्योऽधिगतम् ।

'ट' इतिसंज्ञितम्—अष्टेग्रामनिवासिभ्यः ' गोविन्दराव छिमये ' — इत्येतेभ्योऽधिगतम् ।

'ठ' इतिसंज्ञितम्—काठकोपनिषत् । गोपाळेन्द्रयतीश्वरटीकायुतभाष्योपेता । नागपुरनिवासिनां श्रीयुतानां रा०रा० ' अप्पासाहेब बुटी ' इत्येतेषाम् ।

एतेषु ' क. ' ' झ. ' इति द्वे पुस्तके विहायेतराणि सर्वाणि हस्तलिखितान्येव । ' झ. ' इत्यस्य मुद्रणकालः संवत् १९३० इति वर्तते । ' क ' इत्यस्य गलितमुखपृष्ठत्वात्कालो न ज्ञायते किंतु तदाधुनिकमेव । ' ङ ' इत्यस्य गलितमुखपृष्ठत्वात्कालो न ज्ञायते किंतु तदाधुनिकमेव । ' छ ' इत्यस्य गलितमुखपृष्ठत्वात्कालो न ज्ञायते किंतु तदाधुनिकमेव । ' ज ' इत्यस्य गलितमुखपृष्ठत्वात्कालो न ज्ञायते किंतु तदाधुनिकमेव । ' झ ' इत्यस्य गलितमुखपृष्ठत्वात्कालो न ज्ञायते किंतु तदाधुनिकमेव । ' ञ ' इत्यस्य गलितमुखपृष्ठत्वात्कालो न ज्ञायते किंतु तदाधुनिकमेव । ' ट ' इत्यस्य गलितमुखपृष्ठत्वात्कालो न ज्ञायते किंतु तदाधुनिकमेव । ' ठ ' इत्यस्य गलितमुखपृष्ठत्वात्कालो न ज्ञायते किंतु तदाधुनिकमेव ।

× इदं तु तत्स्वामिसकाशाच्छोधनकालादूर्ध्वं प्राप्तमतस्तदानन्दाश्रमस्यैरेव पण्डितैः समीक्ष्य तत्पाठान्तराणि स्वीकृतानि ।

इति संज्ञितं शके १६७७ युवनामसंवत्सरे लिखितम् । 'ज.' इत्यस्य लेखन-  
कालः संवत् १८७८ इति वर्तते । इतराणि सर्वाणि शकविहीनान्येव ।

एतेषां साम्यभेदाभ्यां ' क, ख, ज ' ' ग, घ, च ' ' ङ, झ, ञ, ट ' इति च त्रयो वर्गा भवन्ति । प्रथमो वर्गः कलिकातास्थानीय इत्यभिहितः । अन्तिमः काशीस्थानीयः । मध्यमस्य स्थानोल्लेखाभावान्नामकरणं कर्तुं न शक्यते । त्रिषु वर्गेषु ' घ, ज, झ, ञ, इति शुद्धान्युपलब्धानि । इतरा-  
ण्यतीवाशुद्धान्यविश्वसनीयानि च । पाठभेदे शुद्धानां यत्रैकमर्थं स पाठः स्वीकृत एव । वैमत्ये तु वरीयस्त्वं ' घ, ष ' इत्येताभ्यां दत्तम् । एतयो-  
र्विसंवादे यत्र बहूनां पक्षपातः स गृहीतः । तेन प्राच्यो ' ग, घ, ङ, च, झ, ञ, ट ' इत्येतेषां साहचर्यं दृष्टम् । सर्वथा शंकराचार्यकृतभाष्यस्याक्षरशः प्रत्युपस्थापने यत्नः कृतः स कियवांऽशेन सफलीभूत इति न निश्चीयते ।

' छ ' पुस्तके काठकोपनिषन्मूलमेव वर्तते । ' ग, घ, च ' पुस्तकेषु भाष्य-  
मेव । इतराणि समूहानि सभाष्याणि टीकायुक्तानि च ' ख, च, ज, पुस्त-  
कान्यानन्दज्ञानकृतटीकायुक्तानि ' झ, ञ, ट ' इत्येतानि च गोपालेन्द्रयति-  
कृतटीकासहितानि भवन्ति । आनन्दज्ञानकृतविवरणस्य काश्याद्गोपाले-  
न्द्रयतिमा तस्यैव विस्तरः कृत इति तत्र तत्र टीकासाम्बन्धाद्भाति । आधु-  
निकमुद्रणे द्वे अपि टीके अर्थसौलभ्याय समावेशिते । पाठान्तराणि प्रतिपृष्ठ-  
मूले प्रकाशितानि ।

वैजनाथ काशीनाथ राजवाडे,

चतुर्थावृत्तिप्रस्ताविका ।

द्वितीयावृत्तावस्थामुपनिषदर्थपरिशालिनकर्तृणामर्थसौलभ्यसंपादनाय तत्र तत्र भाष्य  
एवावतरणिकाया अग्रतो मूलं समावेशितम् । अथ च पूर्वावृत्तौ यद्यत्र यत्र शोधनकर-  
णनियुक्तजनानामनवधानतया स्वलितमासीत्तदप्यत्र संशोध्य संस्कृतमिति विद्वद्भिर-  
भ्यूहनीयम् । तथा प्रतिमन्त्रविभागाद्यप्रतीकवर्णानुक्रमोऽप्यत्र संगृह्य मुद्रितः । इत्यल-  
मत्यल्पसूचिकया प्रस्ताविकया ।

युष्मदीयः

आपटे इत्युपाह्वो नारायणतनूजो हरिश्चर्मा ।

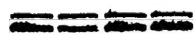
# काठकोपनिषदन्तर्गतमन्त्रप्रतीकानां वर्णानुक्रमणिका ।

| मन्त्रप्रतीकानि           | अ० | ब० | म०  | पृ. | मन्त्रप्रतीकानि            | अ० | ब० | म०  | पृ. |
|---------------------------|----|----|-----|-----|----------------------------|----|----|-----|-----|
| अ.                        |    |    |     |     | उ.                         |    |    |     |     |
| प्रमिर्यथैको भुवनम् २     | २  | ९  | ९९  |     | उत्तिष्ठत जाग्रत... १      | ३  | १४ | ७३  |     |
| प्रजुष्टमात्रः पुरुषः २   | १  | १२ | ८९  |     | उशन्ह वै वाजश्रवसः १       | १  | १  | ६   |     |
| " ".... " "               | १३ | ९० |     |     | ऊ.                         |    |    |     |     |
| " ".... " "               | ३  | १७ | १२४ |     | ऊर्ध्वमूलोऽवाकशाखः २       | ३  | १  | १०७ |     |
| प्रजीर्यताममृतानाम् १     | १  | २८ | २८  |     | ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति २    | २  | ३  | ९५  |     |
| प्रणोरणीयान्महतः १        | २  | २० | ५२  |     | ऊ.                         |    |    |     |     |
| प्रनुपश्य यथा पूर्वं १    | १  | ६  | १०  |     | ऊनं पिबन्तौ सुकृत १        | ३  | १  | ५८  |     |
| प्रन्यच्छ्रेयोऽन्यत् १    | २  | १  | ३०  |     | ए.                         |    |    |     |     |
| प्रन्यत्र धर्मादन्यत्र १  | २  | १४ | ४६  |     | एको वशी सर्वभूता २         | २  | १२ | १०२ |     |
| प्रणयोर्निहितः... २       | १  | ८  | ८६  |     | एतच्छ्रुत्वा संपरि० १      | २  | १३ | ४५  |     |
| प्रविद्यायामन्तरे... १    | २  | ५  | ३५  |     | एतत्तुल्यं यदि मन्यसे १    | १  | २४ | २५  |     |
| प्रव्यक्तात्तु परः.... २  | ३  | ८  | ११४ |     | एतदालम्बनं श्रेष्ठम् १     | २  | १७ | ४८  |     |
| प्रशब्दमस्पर्शम्.... १    | ३  | १५ | ७५  |     | एतद्दयेवाक्षरम्... १       | २  | १६ | ४८  |     |
| प्रशरीरं शरीरेषु १        | २  | २२ | ५५  |     | एष तेऽग्निर्नचिकेतः १      | १  | १९ | २०  |     |
| अस्तीत्येवोपलब्धव्यः २    | ३  | १३ | १२० |     | एष सर्वेषु भूतेषु १        | ३  | १२ | ७०  |     |
| अस्य विस्रंसमानस्य २      | २  | ४  | ९६  |     | का.                        |    |    |     |     |
| आ.                        |    |    |     |     | कामस्याऽऽप्तिं जगत् १      | २  | ११ | ४३  |     |
| आत्मानं रथिनम् १          | ३  | ३  | ६१  |     | जा.                        |    |    |     |     |
| आशाप्रतीक्षे संगतं १      | १  | ८  | ११  |     | जानाम्यहं शेवधिः १         | २  | १० | ४२  |     |
| आसीनो दूरं व्रजति १       | २  | २१ | ५३  |     | त.                         |    |    |     |     |
| इ.                        |    |    |     |     | तं ह कुमारं सन्तम् १       | १  | २  | ७   |     |
| इन्द्रियाणां पृथग्भावम् २ | ३  | ६  | ११३ |     | तदेतदिति मन्यन्ते २        | २  | १४ | १०५ |     |
| इन्द्रियाणि हयानाहुः १    | ३  | ४  | ६२  |     | तमब्रवीत्पीयमाणः १         | १  | १६ | १७  |     |
| इन्द्रियेभ्यः परं मनः २   | ३  | ७  | ११४ |     | तं दुर्दर्शं गूढम्... १    | २  | १२ | ४४  |     |
| इन्द्रियेभ्यः पराः १      | ३  | १० | ६६  |     | तां योगमिति मन्यन्ते २     | ३  | ११ | ११७ |     |
| इह चेदशकद्गोदुम् २        | ३  | ४  | १११ |     | तिस्रो रार्शीर्यदवात्सीः १ | १  | ९  | १२  |     |

| मन्त्रप्रतीकानि      | अ० | ब० | म०  | पृ० | मन्त्रप्रतीकानि        | अ० | ब० | म० | पृ० |
|----------------------|----|----|-----|-----|------------------------|----|----|----|-----|
| त्रिणाचिकेतस्त्रयम्  | १  | १  | १८  | १९  | पु.                    |    |    |    |     |
| त्रिणाचिकेतस्त्रिभिः | १  | १  | १७  | १८  | पुरमेकादशद्वारम्       | २  | २  | १  | ९३  |
| द.                   |    |    |     |     | प्र.                   |    |    |    |     |
| दूरमेते विपरीते      | १  | २  | ४   | ३४  | प्र ते ब्रवीमि तद्     | १  | १  | १४ | १५  |
| देवैत्रापि विचि०     | १  | १  | २१  | २२  | ब.                     |    |    |    |     |
| „ „ .... „           | १  | १  | २२  | २३  | बहूनामेति प्रथमः       | १  | १  | ५  | ९   |
| न.                   |    |    |     |     | भ.                     |    |    |    |     |
| न जायते म्रियते वा   | १  | २  | १८  | १९  | भयादस्याग्निस्तपति     | २  | ३  | ३  | १११ |
| न तत्र सूर्यो भाति   | २  | १  | १५  | १०५ | म.                     |    |    |    |     |
| न नरेणावरेण...       | १  | २  | ८   | ३८  | मनसैवेदमाप्तव्यम्      | २  | १  | ११ | ८९  |
| न प्राणेन नापानेन    | २  | २  | ५   | ९६  | महतः परमव्यक्तम्       | १  | ३  | ११ | ६९  |
| न वित्तेन तर्पणीयः   | १  | १  | २७  | २७  | मृ.                    |    |    |    |     |
| न संदृशे तिष्ठति     | २  | ३  | ९   | ११५ | मृत्युपोक्तानाचि-      |    |    |    |     |
| न सांपरायः प्रति०    | १  | २  | ७   | ३६  | केतः                   | २  | ३  | १८ | १२४ |
| ना.                  |    |    |     |     | य.                     |    |    |    |     |
| नाचिकेतमुपा-         |    |    |     |     | य इमं परमम् ....       | १  | ३  | १७ | ६७  |
| ख्यानम् ....         | १  | ३  | १६  | ७७  | य इमं मध्वदम्          | २  | १  | ५  | ८४  |
| नायमात्मा प्रवचेन    | १  | २  | २३  | ५५  | य एष सुप्तेषु जागर्ति  | २  | २  | ८  | ९९  |
| नाविरतो दुश्चरितात्  | १  | २  | २४  | ५७  | यच्छेद्वाङ्मनसी        | १  | ३  | १३ | ७२  |
| नि.                  |    |    |     |     | यतश्चोदेति सूर्यः      | २  | १  | ९  | ८७  |
| नित्यो नित्यानाम्    | २  | २  | १३  | १०३ | यथाऽऽदर्शे तथा         | २  | ३  | ५  | ११२ |
| नै.                  |    |    |     |     | यथा पुरस्ताद्भविता     | १  | १  | ११ | १३  |
| नैव वाचान मनसा       | ३  | १२ | ११८ |     | यथोदकं दुर्गे वृष्टम्  | २  | १  | १४ | ९०  |
| नैषा तर्केण मतिः     | १  | २  | ९   | ४१  | यथोदकं शुद्धे शुद्धम्  | १  | १५ | ९१ |     |
| प.                   |    |    |     |     | यदा पञ्चावतिष्ठन्ते    | २  | ३  | १० | ११६ |
| पराचः कामाननु        | २  | १  | २   | ८१  | यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते | २  | ३  | १५ | १२२ |
| पराश्चि खानि         |    |    |     |     | यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते | २  | ३  | १४ | १२१ |
| व्यतृणत्             | २  | १  | १   | ७८  | यदिदं किंच जग-         |    |    |    |     |
| पी.                  |    |    |     |     | त्सर्वम्               | २  | ३  | २  | ११० |
| पीतोदका जग्धृणा      | १  | १  | ३   | ७   | यदेवेह तदमुत्र         | २  | १  | १० | ८७  |

| मन्त्रप्रतीकानि        | अ० | व० | म० | पृ० | मन्त्रप्रतीकानि        | अ० | व० | म० | पृ० |
|------------------------|----|----|----|-----|------------------------|----|----|----|-----|
| यस्तु विज्ञानवान्      | २  | ३  | ६  | ६४  | शतायुषः पुत्रपौत्रान्  | १  | १  | २३ | २४  |
| ” ”.....               | २  | ३  | ८  | ६५  | शान्तसंकल्पः सु-       |    |    |    |     |
| यस्त्वविज्ञानवान्      | १  | ३  | ५  | ६३  | मनाः                   | १  | १  | १० | १३  |
| ” ”                    | १  | ३  | ७  | ६४  | श्र.                   |    |    |    |     |
| यस्मिन्निदं विचि०      | १  | १  | २९ | २९  | श्रवणायापि बहुभिः      | १  | २  | ७  | ३७  |
| यस्य ब्रह्म च क्षत्रम् | १  | २  | २५ | ५७  | श्रेयश्च प्रेयश्च      | १  | २  | २  | ३२  |
| यः पूर्वं तपसः....     | २  | १  | ६  | ८५  | श्वोभावा मर्त्यस्य     | १  | १  | २६ | २६  |
| यः सेतुरीजानानाम्      | १  | ३  | २  | ६०  | स.                     |    |    |    |     |
| या.                    |    |    |    |     | स त्वमग्निः स्व-       |    |    |    |     |
| या प्राणेन संभवति      | २  | १  | ७  | ८६  | र्ग्यम्                | १  | १  | १३ | १५  |
| ये.                    |    |    |    |     | सत्वंप्रियान्प्रियरूपा | १  | २  | ३  | ३३  |
| येन रूपः रसम्....      | २  | १  | ३  | ८२  | सर्वे वेदा यत्पदम्     | १  | २  | १५ | ४७  |
| येयं प्रेते विचिकित्सा | १  | १  | २० | २१  | सह नाववतु              | २  | ३  | १९ | १२५ |
| ये ये कामा दुर्लभाः    | १  | १  | २५ | २५  | स होवाच पितरम्         | २  | १  | ४  | ८   |
| यो.                    |    |    |    |     | सू.                    |    |    |    |     |
| योनिमन्ये प्रपद्यन्ते  | २  | २  | ७  | ९८  | सूर्यो यथा सर्वलोक     | २  | २  | ११ | १०१ |
| लो.                    |    |    |    |     | स्व.                   |    |    |    |     |
| लोकादिमग्निम्          | १  | १  | १५ | १६  | स्वप्नान्तं जागरिता    | २  | १  | ४  | ८४  |
| वा.                    |    |    |    |     | स्वर्गे लोके न भयम्    | १  | १  | १२ | १४  |
| वायुर्यथैको भुवनम्     | २  | २  | १० | १०१ | ह.                     |    |    |    |     |
| विज्ञानसारयिर्यस्तु    | १  | ३  | ९  | ६५  | हंसः शुचिषदसुः         | २  | २  | २  | ९३  |
| वैश्वानरः प्रविशति     | १  | १  | ७  | ११  | हन्त त इदं प्रव०       | २  | २  | ६  | ९८  |
| श.                     |    |    |    |     | हन्ता चेन्मन्यते       | १  | २  | १९ | ५१  |
| शतं चैका च हृदयस्य     | १  | ३  | १६ | १२३ |                        |    |    |    |     |

समाप्ता चैयं मन्त्रप्रतीकवर्णानुक्रमणी ।







ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

आनन्दगिरिगोपालयतीन्द्रविरचितटीकाद्वयसंवलितेन

श्रीमच्छांकरभाष्येण समेता

काठकोपनिषत् ।

ॐ सह नाविति शान्तिः ।

ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च ।

आ० टी०—धर्माधर्माद्यसंसृष्टं कार्यकारणवर्जितम् ॥

कालादिभिरविच्छिन्नं ब्रह्म यत्तन्नमाम्यहम् ॥ १ ॥

र्थः साक्षात्कृतपरमानन्दो यावदधिकारं याम्ये पदे वर्तमानोऽकर्तृब्रह्मात्मतानुभव-  
बलतो भूतयातन निमित्तदोषैरलिप्तस्वभाव आचार्यो वरप्रदानेन परब्रह्मात्मैक्यविद्यामुप-  
दिदेश यस्मै चोपदिदेश ताभ्यां नमस्कुर्वन्नाचार्यभक्तेर्विद्याप्राप्त्यङ्गत्वं दर्शयति—

ॐ नमो भगवते वैवस्वतायेति ।

गौ० टी०—ब्रह्माद्वयं परानन्दं धर्मादीनामगोचरम् ।

कार्यकारणनिर्मुक्तं शिवं परमुपास्महे ॥ १ ॥

नत्वा देवमुमाजानि स्मृत्वा गुरुपदाम्बुजम् ।

ध्यात्वा गौरीमहं कुर्वे कठभाष्यविवेचनम् ॥ २ ॥

क्व भाष्यमतिगम्भीरं क्व चाहं मन्दबुद्धिगः ।

तथाऽपि गुरुवर्याणां पादसंस्मृतितो यते ॥ ३ ॥

भगवान्भाष्यकारो यमनचिकेतःसंवादरूपेण प्रवृत्ताः कठवल्लीव्याचिरुयासुश्चिकीर्षि-  
तस्य भाष्यस्य निर्विघ्नप्रचलनगमनादिप्रयोजनाय ब्रह्मविद्याचार्यनतिलक्षणं मङ्गलमाचर-  
न्नासौ यमं नमस्करोति—नम इति । मृत्यवे नम इत्यन्वयः । ननु न यमो नमस्कार्यो  
मारयतीति मृत्युरिति व्युत्पत्त्या भूतयातनादिकर्तृत्वेन दोषवत्त्वान्निर्दुष्टो ह्याचार्यो नाम  
भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—भगवत इति । उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति  
विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवान्निर्तीतिस्मृतेर्यमः करतलाकृतब्रह्मवत्त्वोऽपि यावद-  
धिकारं याम्ये पदे वर्तमानः प्रारब्धमतिवाहयन्नकर्तृब्रह्मात्मतानुभवबलतो भूतयातनादि-

दोषैरलिप्तस्वभाव इति युक्तं तस्य नमस्कार्यत्वमिति भावः । तस्य हिरण्यगर्भात्मक-  
सूर्यप्रभवत्वेन महत्त्वं दर्शयति—वैवस्वतायेति । विवस्वतोऽत्पत्यं पुमान्वैवस्वत-  
स्तस्मै वैवस्वताय भगवते ब्रह्मविद्याचार्याय मृत्यवे नम इत्यन्वयः । एवं यमनर्ति कृत्वा  
वरप्रदानेन यस्मै यमो नचिकेतसे ब्रह्मविद्यां प्राह यस्माच्च ब्रह्मविद्या लोके वृद्धिं गता  
तं नमस्करोति—नचिकेतस इति । नम इति संबन्धः । चकारो मङ्गलद्वयसमुच्चय-  
द्वारा भक्तेर्विद्याप्राप्त्यङ्गत्वसूचकः ।

अथ काठकोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थप्रबोधनार्थमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते ।  
सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनि-  
षदिति । उपनिषच्छब्देन च व्याचिरुयासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया  
विद्योच्यते । केन पुनरर्थयोगेनोपनिषच्छब्देन विद्योच्येत इत्युच्यते । ये मुमु-  
क्षवो दृष्टान्तुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां  
विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसार-  
बीजस्य विशरणाद्धिसनाद्दिनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्योपनिषदित्युच्यते ।  
तथा च वक्ष्यति—“ निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ” इति ।

आ० टी०—अथ शब्दो मङ्गलार्थः । चिकीर्षितं प्रतिजानीते—काठकेति । ननु निषदो  
वृत्तिर्नाऽऽरब्धवशा प्राणिना कामकलुषितचेतसामुपनिषच्छ्रवणात्पराङ्मुखत्वाद्दिशिष्टस्या-  
धिकारिणो दुर्निरूपत्वाद्ग्रन्थस्य च सत्यस्य कर्मभ्य एव निवृत्तेरुपनिषज्जन्मविद्याया निष्प्रयो-  
जनत्वाज्जीवस्य च संपारिब्रह्मात्मतायाः प्रतिपादयितुमशक्यत्वेन निर्विषयत्वाच्चेत्याश-  
ङ्क्यो निषच्छब्दनिर्वचनेन विद्याया विशिष्टाधिकार्यादिमत्त्वप्रदर्शनेन तज्जनकस्य ग्रन्थ-  
स्यापि विशिष्टाधिकार्यादिमत्त्वेन व्याख्येयत्वं दर्शयितुं प्रथममुपनिषच्छब्दस्वरूपमिद्धि ताव  
दाह-उपनिपूर्वस्येति । ब्रह्मविद्यायामुपनिषच्छब्दस्योपनिषदं भो ब्रूहीत्यादिप्रयोगदर्शना-  
द्वात्वर्थमाह—उपनिषच्छब्देनेति । क्लृप्तावशक्तैव प्रयोगसंभवे समुदा शक्ति-  
रुपनिषच्छब्दस्य न कल्पनीयेत्याह—केन पुनरिति । षट्क विशरणगत्यवसादनेष्विति  
धातोर्विशरणमर्थमादाय योगवृत्तिमाह—उच्यत इति । विषयेषु क्षयिष्णुत्वादिदोषदर्श-  
नाद्विरक्ताः केचन मुमुक्षवः प्रसिद्धा न सर्वे भवादृशाः कामुका एवेति यच्छब्देन प्रसि-  
द्धावद्योतकेन कथयति । अनुश्रविकाः शब्दप्रतिपन्नाः स्वर्गभोगादयः । उपसद्येति ।  
आचार्योपदेशाल्लब्ध्वा यावत्साक्षात्कारं शीलयन्ति संसार्यसंसार्यैक्यासंभावनादि निर-  
स्यन्तीत्यर्थः ।

१ ज ट सुखेनार्थबो । २ ग. च. 'धेप्रतिबोधनम्' । ३ ख. ड. 'बोधनम्' । ४ ड. म.  
ठ. 'ग्रन्थवृ' । ५ ड. झ. म. ठ. 'च्यतेऽप्रोच्य' । ६ ड. च. झ. म. 'नुश्रावि' । ७ ड. झ. म.  
ठ. 'च्छब्देन वा' । ८ ग. च. 'ष्ठया' । ९ ग. ठ. 'णाद्विशसनाद्धि' ।

गो० टी०—यदर्थं मङ्गलाचरणं कृतं तत्प्रतिजानीते—अथेत्यादिना । अथ-  
शब्दो मङ्गलार्थः । काठकोपनिषद्वल्लीनां मृत्युनाचिकेतःसंवादपरिसमाप्तिपर्यन्ता काठको-  
पनिषत् । तदेकदेशा वल्लयो लताः कल्पलतावदभीष्टफल्दाः । तासां वृत्तिर्भाष्यं तल्ल-  
क्षणसत्त्वादारभ्यते प्रक्रम्यत इत्यर्थः । ननु भर्तृप्रपञ्चादिभिरेव व्याख्यातत्वान्नाऽऽरम्भ-  
णीया वृत्तिरित्यत आह—अल्पग्रन्थेति । अन्येषां शब्दतो बहुत्वादर्थतश्च न्यूनत्वा-  
त्तैरगतार्थं भाष्यम् । अल्पा ग्रन्थाः शब्दा यस्याः सा तथोक्ता । ननु ‘ अत्ता चराच-  
रग्रहणात् ’ इत्यादिभिराधिकरणैरेव निर्णीतार्थत्वादुपनिषत्तु व्याख्येयेत्यत आह—सुखा-  
र्थेति । सुखेनानायासेनार्थस्य वाक्यार्थस्य प्रबोधनार्थं सम्यग्ज्ञानाय पदार्थज्ञानपूर्वकवा-  
क्यार्थज्ञानायेति यावत् । ननूपनिषदो वृत्तिर्नाऽऽरब्धव्याऽधिकारिप्रयोजनविषयसंबन्धा-  
नामभावात् । तथा हि—प्राणिनां कामकलुषितचेतसामुपनिषच्छ्रवणात्पराङ्मुखत्वेन विवे-  
कादिमतोऽधिकारिणो दुर्लभत्वादुपनिषद्भिः कर्तृत्वादिविशिष्टजीवस्यासंसारिब्रह्मात्म-  
तायाः प्रतिपादयितुमशक्यत्वेन ब्रह्मात्मैक्यविषयाभावादेव प्रयोजनमपि न लभ्यते  
बन्धस्य सत्यत्वेन विद्यायास्तन्निवर्तकत्वायोगात्कर्मभिरेव तन्निवृत्तेः संभवाच्चान एव  
संबन्धो नेत्याशङ्क्योपनिषच्छब्दनिर्वचनेन विद्याया विशिष्टाधिकार्यादिमत्त्वप्रदर्शनेन  
तज्जनकग्रन्थस्यापि विषयादिमत्त्वं दर्शयितुमादावुपनिषच्छब्दस्वरूपनिष्पत्तिप्रकारं ताव-  
दाह—उपनिषद्व्येति । शिथिलीकरणप्राप्तिनाशार्थकस्य क्विचित् प्रत्ययोऽन्ते यस्य  
स तथा । तस्य सदेर्धातोरुपपूर्वस्य निपूर्वस्य रूपं निष्पन्नशब्दस्वरूपमुपनिषादित्यर्थः ।  
एवमुपनिषच्छब्दस्वरूपं निरुच्योपनिषदं भो ब्रूहित्यादौ ब्रह्मविद्यायामुपनिषच्छब्दप्रयो-  
गदर्शनादुपनिषच्छब्देन ब्रह्मविद्योच्यत इत्याह—उपनिषच्छब्देनेति । उक्तश्रुतिप्र-  
सिद्धिद्योतकश्चशब्दः । व्याख्यादुमिष्टो ग्रन्थ उपनिषद्रूपस्तस्य प्रतिपाद्यमधिकारिणश्च  
वेद्यं यद्वस्तु ब्रह्मात्मैक्यं तद्विषयो यस्याः सा तथा । ननूपनिषच्छब्देन विद्या किं समु-  
दायशक्त्याऽभिधीयत उतावयवशक्त्या । नाऽऽद्यः । लोके विद्यायामुपनिषच्छब्दस्य  
प्रयोगाभावेन समुदायशक्तेरवल्लसत्वात्कल्प्यायाश्च वल्लप्तावयवशक्त्या बाध्यत्वात् । न  
द्वितीयः । योगवृत्तेरन्यत्रापि संभवादिति शङ्कते—केनेति । अर्थयोगोऽर्थसंबन्धस्तेन  
कर्मसंबन्धमादायोपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्यर्थः । उक्तगीता न समुदायार्थो नाप्य-  
वयवार्थ इति भावः । षड्ल विशरणगत्यवसादनेष्विति स्मृतेरुपनिषच्छब्दस्यावयव-  
वृत्तिं विद्यायां दर्शयिष्यामत्याह—उच्यत इति । प्रथममुपशब्दलक्ष्यार्थमाह—य इति ।  
दृष्टाः प्रत्यक्षेण स्त्रक्चन्दनवानितादयः शब्दश्रवणमनुगम्या आनुश्रविकाः । ते च ते  
विषयाश्च तेभ्यः क्षयिष्णुत्वसातिशयत्वादिभिर्हेतुभिर्विगतः तृष्णाऽऽशा येषां ते तथा-  
रूपाः सन्तः । इदमुपलक्षणं शमादेः । मुमुक्षवो मोक्षेच्छवः प्रसिद्धाः । शान्तो दान्त  
इत्यादौ वक्ष्यमाणलक्षणं स्वरूपं यस्याः सा तां विद्यामुपसद्योगस्य प्राप्येत्यर्थः । निश-

वदार्थमाह—तन्निष्ठतयेति । तस्यां निष्ठाऽनन्यव्यापारता येषां ते तन्निष्ठास्तेषां भावस्त-  
निष्ठता तथा निश्चयेन फलावश्यकत्वबुद्ध्या शील्यन्त्यसंसार्यैक्यासंभावनां निरस्यन्ति  
साक्षात्कारपर्यन्तमित्यर्थः । धात्वर्थद्वयं संगृह्याऽऽह—तेषामिति । संसारबीजस्य  
कर्तृत्वादिकारणस्याविद्यादेरादिपदेन कामकर्मादिपरिग्रहः । विशरणादित्यस्य व्या-  
ख्यानं विशसनादिति । शिथिलीकरणादित्यर्थः । अवसादनार्थमाह—विनाशना-  
दिति । उक्तार्थमुपसंहरति—इत्यनेनेति । उक्तऽर्थे श्रुतिं प्रमाणयति—तथा चेति ।

पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षुन्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन  
योगाद्ब्रह्मविद्योपनिषत् । तथा च वक्ष्यति—“ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभू-  
द्विमृत्युः” इति । लोकादिब्रह्मजज्ञो योऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया  
द्वितीयेन घरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासज-  
न्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादधितृत्वेन  
शैथिल्यापादनेन धात्वर्थयोगादग्निविद्याऽप्युपनिषदित्युच्यते । तथा च  
वक्ष्यति—“स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते” इत्यादि । ननु चोपनिषच्छ-  
ब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलपन्ति । उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम इति  
च । एवं नैष दोषोऽविद्यादिसंसारहेतुविशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थ-  
मात्रेऽसंभवाद्द्विद्यायां च संभवात् । ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वो-  
पपत्तेः । आयुर्वै घृतमित्यादिवत् । तस्माद्द्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनि-  
षच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्येति । एवमुपनिषन्निर्वचनेनैव विशिष्टोऽ-  
धिकारी विद्यार्यामुक्तः । विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं ब्रह्म  
प्रत्यगात्मभूतम् । प्रयोजनं चास्या उपनिषद आत्यन्तिकी संसारनिवृ-  
त्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा । संबन्धश्चैवंभूतप्रयोजनेनोक्तः । अतो यथोक्ता-  
धिकारिविषयप्रयोजनसंबन्धाया विद्यायाः करतलन्प्रस्तामलकवत्प्रकाश-  
कत्वेन विशिष्टाधिकारिविषयप्रयोजनसंबन्धा एता बल्लयो भवन्तीति ।

आ० टी०—गत्यर्थमादायाऽऽह—पूर्वोक्तेति । अग्निविद्यायामप्यवसादनमादायोपनि-  
षच्छब्दस्य वृत्तिमाह—लोकादिरिति । भूरादिलोकानामादिः प्रथमजो ब्रह्मणो जातो  
ब्रह्मजः स एव जानातीति ज्ञः । ग्रन्थे तु भक्त्येत्युपचारेणोपनिषच्छब्दप्रयोग इत्यर्थः ।

१ घ. ननुप\* । २ ख. लषन्ति । ३ ग. च. हेऽध्यापयामह इ\* । ४ ग. च. नैव । ५ क.  
ज. णादेर्भात्व\* । ग. घ. च. णात्सदेर्भात्व\* । ६ क. ख. ज. तु भाक्त्ये\* । ग. ३ झ. ञ. ट.  
तु भाक्त इति । ७ क. झ. ञ. ट. षच्छब्दनिर्व\* ८ । क. ख. ज. या उक्तः । ९ क. झ. ञ. ट.  
संबन्धप्रयोजनायाः ।

उपनिषच्छब्दनिर्वचनेन सिद्धमर्थमाह—एवमित्यादिना । आत्यन्तिकी निदाननिवृत्त्या निवृत्तिर्विवक्षिता । निदानं चान्वयव्यतिरेकशास्त्रन्वायेभ्यः संसारस्याऽऽत्मैकत्वाविद्या । सा च न कर्षणा विनिवर्ततेऽतो विद्यायाः प्रयोजनेन साध्यसाधनलक्षणः संबन्ध इत्यर्थः ।

गो० टी० —सदेर्गत्यर्थमादायाऽऽह—पूर्वोक्तेति । कर्तृत्वाद्यनर्थमूलाविद्यां निहत्य पूर्वोक्तविशेषणान्साधनचतुष्टयसंपन्नान्सादयति परब्रह्म गमयतीति व्युत्पत्त्या ब्रह्मगमयितृत्वयोगेन योगात्संबन्धाद्ब्रह्मविद्योपनिषच्छब्देनोच्यत इत्यर्थः । उक्तेऽर्थे व्याख्येयश्रुतिवाक्यं प्रमाणयति—तथा चेति । विद्यया ब्रह्म प्राप्ते विगतं रजो यस्मात्स विरजाऽज्ञानशून्योऽभूत् । अत एव कार्यनिवृत्तिरित्याह—विमृत्युरिति । मृत्योर्मरणोपलक्षितसंमाराद्विगत इत्यर्थः । ननु व्याख्येयसितग्रन्थप्रतिपाद्यविद्योपनिषच्छब्देनोच्यत इत्युक्तम् । तथात्वेऽग्निविद्याप्रकाशनापत्तेरित्याशङ्क्य सदेरग्निविद्यायामवसादनविशरणार्थावादाद्योपनिषच्छब्दस्य वृत्तिमाह—लोकादिसिति । लोकानामादिः प्रथमजो ब्रह्मणो जातो ब्रह्मजः स एव जानातीति ज्ञस्तद्विषयाया अग्निविषयायाः । जरदीत्यादिपदेन मरणादिसंग्रहः । वृन्दस्य समूहस्यावसादयितृत्वेन धात्वर्थयोगादग्निविद्याऽप्युपनिषच्छब्देनोच्यत इत्यन्वयः । इतरक्रियातो वैषम्याह—लोकाद्इतर इति । उक्तेऽर्थे वाक्यशेषं प्रमाणयति तथा चेति । स्वर्गलोका यजमाना अमृतत्वं देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । उपनिषच्छब्दस्य ग्रन्थेऽध्ययपकाध्येतृप्रसिद्धिविरोधं शङ्कते—नन्विति । प्रथमचकार एवकारार्थः क्रियान्वयी । द्वितीयः प्रयोगद्वयसमुच्चयार्थः । उपपादितयोगार्थस्य विद्यायामेव संभवात्सैव तच्छब्देनोच्यत इति परिहरति—नैष दोष इति । प्रतिज्ञायां हेतुमाह—अविद्येति । अविद्याकामकर्मेत्येवमादिर्यः संसारस्तस्य कर्तृत्वादेर्हेतुस्तस्य विशरणादेरादिपदेन गत्यवसादनयोर्ग्रहणं भवति । ननु ग्रन्थे प्रयोगः कथमित्यत आह—ग्रन्थस्यापीति । तादर्थ्येनेति । सोऽर्थः प्रयोजनं यस्य स तदर्थस्तस्य भावस्तादर्थ्यं तज्जनकत्वेनेति यावत् । स शब्द उपनिषदिति यस्य स तच्छब्दस्तस्य भावस्तच्छब्दत्वं तस्योपपत्तेः संभवादित्यर्थः । तज्जनके तच्छब्दप्रयोगे दृष्टान्तमाह—आयुरिति । आयुष्प्रदे घृत आयुष्पदवदित्यर्थः । उपसंहरति—तस्मादिति । ग्रन्थे तु भक्त्येति । लक्षणयोपनिषच्छब्दप्रयोग इत्यर्थः । उपनिषच्छब्देन सिद्धमर्थमाह—एवमित्यादिना । उपनिषन्निर्वचनमुपनिषच्छब्दस्य योगार्थकथनं तेन विशरणावसादनार्थानुगमेन विद्याया विवेकादिविशेषणविशिष्टोऽधिभार्युक्तो गत्यर्थानुगमेन मुमुक्षुशब्दितत्त्वंपदलक्ष्यप्रत्यगात्मभूतं परं ब्रह्म विद्याया विशिष्टाऽसाधारणो विषय उक्तोऽस्या विद्यायाः प्रयोजनं चाविद्यानिवृत्तिद्वारा संसारनिवृत्तिरात्यन्तिकयारोपिताभावस्याधिष्ठानात्मकत्वेन ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा निवृत्तिः । अथवा ब्रह्मप्राप्तेस्तद्रूपनिरतिशयानन्दप्राप्तेर्लक्षणा ज्ञापिकेत्यर्थः । संबन्ध-

माह—संबन्धश्चेति । एवंभूतप्रयोजनेन संसारनिवृत्त्यादिप्रयोजनेन । संबन्ध उक्तो ज्ञानादीनामिति शेषः । अयं भावो न हि सर्वो लोकः कामादिपरतन्त्रस्तद्वदनेकजन्मा-  
जितसुकृतपरिपाकाच्छुद्धसत्त्वस्याधिकारिणः कस्यचित्संभवाद्बन्धस्य च मिथ्यात्वेना-  
विद्याकल्पितत्वात्कर्माभिर्निवृत्त्ययोगादन्वयव्यतिरेकाभ्यां शुक्तितत्त्वज्ञानेनेव रजतभ्रान्ते-  
न्यायेन शास्त्रेण च ज्ञानेनैव बन्धनिवृत्तेरत एवाकर्तृब्रह्मात्मैक्यविषयस्यापि संभवः ।  
एवं ज्ञानेनाविद्यानिवृत्तेर्जन्यजनकभावः संबन्ध इत्याद्यहनीयमित्यधिकारिविषयप्रयोजन-  
संबन्धत्वेन विद्यायास्तज्जनकवर्हानामपि तैः संबन्धादधिकार्यादिमत्त्वमित्यभिप्रेत्याऽऽह—  
अत इति । प्रकाशकत्वेन जनकत्वेन । विशिष्टेति । विशिष्टान्यधिकारिविषयप्रयोज-  
नानि तैः संबद्धा एता व्याख्येयत्वेन बुद्धिस्थाः । तासां व्याख्येयत्वमुपसंहरति —  
इत्यत इति ।

अतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे—

ॐ उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।

तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

तत्राऽऽख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । उशन्कामयमानो ह वा इति  
वृत्तार्थस्मरणार्थो निपातो वाजश्रवसं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य  
स वाजश्रवा रूढितो वा तस्यापत्यं वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्व-  
मेधेनेजे तत्फलं कामयमानः । स तस्मिन्कृतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं  
ददौ दत्तवान् । तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किलाऽऽस  
बभूव ॥ १ ॥

आ० टी०—वश कान्तावेत्यस्य शत्रन्तं रूपमुशन्निति । श्रवः कीर्तिः । सर्वमे-  
धेन सर्वस्वदक्षिणेनेजे यजनं कृतवानित्यर्थः । सदसि यज्ञसभायां येऽन्ये मिलिता ब्रह्म-  
णास्तेभ्यश्च ॥ १ ॥

गो० टी०—औद्धत्यं परिहरति—यथेति । यथाप्रतिभानं यथाज्ञानं व्याचक्ष्महे  
व्याख्यानं कुर्महे । नन्वभ्यच्छेय इत्यारभ्यैवोपनिषद्वाख्यानाहं विद्याजनकत्वात्प्रथ-  
मायाश्चाऽऽख्यायिकारूपत्वेन विद्यानङ्गत्वादित्यत आह—आख्यायिकेति । विद्यायां  
प्रवृत्तिहेतुस्तुत्युपयोगित्वेन तदधिकारहेत्वग्निविद्याप्रतिपादकत्वेनाऽऽद्याया अपि व्या-  
ख्येयत्वांमति भावः । वश कान्तौ कातिरिच्छा । वशधातोः शतृपत्यय उशन्निति  
रूपं, वृत्तार्थो भूतार्थः । यशः कीर्तिः । रूढितो वा वाजश्रवा इत्यनुवर्तते । सर्वमेधेन  
सर्वस्वदक्षिणाकेनेजे यजनं कृतवानित्यर्थः । तत्फलं विश्वजितः फलम् । अर्थान्तरप्र-  
सिद्धचवद्योनी द्वितीयो निपातः ॥ १ ॥

१ क. झ. म. ट. ह वै वृ° । २ क. ह. 'वो यस्य । ३ क. छ. ज. स चैत° । घ. स च  
त° । ४ क. म. 'वस्वध° ।

तꣳ ह कुमारꣳ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु  
श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तपजननशक्तिं बालभेव  
श्रद्धाऽऽस्तिक्वबुद्धिः पितुर्हितकामपयुक्ताऽऽविवेश प्रविष्टवती । कस्मि-  
न्काल इत्याह—ऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभा-  
गेनोपनीयमानासु दक्षिणार्थासु गोषु स आविष्टश्रद्धो नचिकेता अम-  
न्येत ॥ २ ॥

आ० टी०—॥२॥

गो० टी०—अप्राप्तपजननशक्तिमवाप्ता प्रजनने प्रजोत्पादने शक्तिर्येन स तं श्रद्धाऽऽ-  
विवेशेत्यन्वयः । ननु गुर्वधीनः स्वार्थं न व्यापारयेदिति न्यायात्कथं स्वेष्टानुकूला श्रद्धे-  
त्यत आह—पितुरिति । काम्यत इति कामो हितश्चासौ कामश्च हितकामः । स्वर्गादि-  
गिति यावत् । तेन प्रयुक्ता जानिता जनकोद्देशज्ञानाधीनेत्यर्थः । प्रविष्टवतीति । स  
श्रद्धावाञ्जात इति भावः । दक्षिणास्वित्यादिवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमपेक्षितं पूरयन्व्याक-  
रोति—कस्मिन्निति । सदस्येभ्यश्चेति । ऋत्विग्भ्योऽन्ये सदसि यज्ञसभायां ये मिल्हि-  
तास्तेभ्यश्च विभागेनेत्येतस्यैतावदित्युपनीयमानासु दीयमानासु दक्षिणास्विति व्याचष्टे—  
दक्षिणार्थास्विति । विशेष्यं पूरयति—गोष्विति ऋत्विगादिभ्यो गोषु दीयमानासु  
तं ऋद्धाऽऽविवेशेत्यन्वयः ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।

अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

कथमित्युच्यते—पीतोदका इत्यादिना । दक्षिणार्था गावो विशेष्यन्ते ।  
पीतमुदकं याभिस्ताः पीतोदकाः । जग्धं भक्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः ।  
दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदोहाः । निरिन्द्रिया अपजननसमर्था  
जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थः । यास्ता एवंभूतां गा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा-  
बुद्ध्या ददत्प्रयच्छन्नन्दा अनानन्दा असुखा नामेत्येतथे ते लोकास्तान्स  
यजमानो गच्छति ॥ ३ ॥

१ क. ख. 'स्तिकी बु' । २ झ. म. 'न्यताऽऽलोचितवान् ॥२॥ ट. 'न्यताऽऽलोकितवान्  
॥ २ ॥ ३ ख. ज. 'र्थः । यतस्ता । ४ झ. ङ. ट. 'ता ऋ' । ५ ग. च. 'नामान इत्ये' ।  
६ क. ख. ज. 'ति ता ददत् ॥ ३ ॥

आ० टी०—पीतमुदकं प्रागेव नोत्तरकालं पानशक्तिरप्यस्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

गो० टी०—मननप्रकारं प्रश्नपूर्वकमवतारयति—कथमित्यादिना । विशेष्यन्ते पीतीदकत्वादिविशेषेण संयुज्यन्ते । पीतमुदकं प्रागेव नोत्तरकालं पानशक्तिरप्यस्तीत्यर्थः । एवं दानोत्तरकाले तृणभक्षणे दोहने च न शक्तिरित्यर्थो द्रष्टव्यः । अप्रजननसमर्थाः प्रजनने वरसंप्रसवे सामर्थ्यशून्याः । निष्फला इति । शकृदपि द्रवीभूतमिति निष्फला इत्युच्यन्ते । यः प्रयच्छन्स गच्छतीत्यन्वयः । कानित्यपेक्षायामाह—त इति । तच्छब्दः प्रसिद्धार्थक इत्याह—य इति । प्रसिद्धा लोका इत्यर्थः । कीदृग्विधा इत्यपेक्षायामाह—अनन्दा इति । न नन्दा आनन्दयन्तीति नन्दाः सुखजनकास्ते न भवन्तीत्यनन्दास्तदाह—अनानन्दा असुखनामान इत्येतदिति ॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति । द्वितीयं तृतीयं त\* होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

तदेवं ऋत्वसंपत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं मया पुत्रेण सता निवारणीयमात्मप्रदानेनापि ऋतुसंपत्तिं कृत्वेत्येवं मत्वा पितरमुगम्भ स होवाच पितरं हे तत तत कस्मै, ऋत्विग्निशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि प्रयच्छसीत्येतत् । एवंमुक्तेन पित्रोपेक्षमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमप्युवाच कस्मै मां दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति । नायं कुभारस्वभाव इति क्रुद्धः सन्पिता तं ह पुत्रं किलोवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति ॥ ४ ॥

आ० टी०—॥ ४ ॥

गो० टी०—मननप्रकारमुपसंहरन्नोत्तराकथमुपसंहरति—तदेवमित्यादिना । एवं पूर्वोक्तगोदक्षिणया ऋतोरसंपत्तिरसाङ्गता निमित्तं यस्य फलस्य तथा । पुत्रेण सता पुंनान्नो नरकात्रायत इति व्युत्पत्तेः । सत्पुत्रेणेति यावत् । अपिशब्दो द्रव्यान्तरस्वातन्त्र्याभावयोः सूत्रकः । आत्मप्रदानेनापि ऋतुसंपत्तिं कृत्वा पुत्रेण सता मया पितुरनिष्टं-फलं निवारणीयमित्यन्वयः । दीर्घाभावश्छान्दस इत्याह—तातेति । दास्यसीति स नाचिकेताः पितरमुवाचित्यन्वयः । एवं पूर्वोक्तवचसोक्तन प्रेरितन द्वितीयं द्वितीयवारं तृतीयं तृतीयवारं पुनः पुनरप्युवाचेत्यर्थः । किमित्यत आह—कस्मा इति । अपेक्षितं पूर्यन्नोत्तरमवतारयति—नायमिति ॥ ४ ॥



बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः । किंस्विद्यमस्य  
कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

स एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयांचकार । कथमित्युच्यते--बहूनां  
शिष्याणां पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्यया शिष्यादिवृत्त्ये-  
त्यर्थः । मध्यमानां च बहूनां मध्यमो मध्यमैष्व वृत्त्येमि । नाधमया  
कदाचिदापि । तमेवं विशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे त्वा ददामीत्युक्त-  
वान्पिता स किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मयां प्रत्तेन करिष्यति  
यत्कतेव्यमद्य । नूनं प्रयोजनमनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान्पिता ।  
तथाऽपि तत्पितुर्वचो मृषा मा भूदित्येवं मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं  
शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति ॥ ५ ॥

आ० टी०—यथावसरं गुरोरिष्टं ज्ञात्वा शुश्रूषणे प्रवृत्तिर्मुख्या । आज्ञावशेन मध्यमा ।  
तदपरिपालनेनाधमा । मया दत्तेन यत्कर्तव्यमद्य यमस्य करिष्यति तत्किं कर्तव्यमासी-  
न्नाऽऽसीदेव विधानाभावात् । कथं तर्ह्युक्तवानित्यत आह—नूनमिति ॥ ५ ॥

गो० टी०—एवमुक्त इति । पित्रेति शेषः । परिदेवयांचकार दीर्घाचन्तां कृतवानि-  
त्यर्थः । चिन्ताप्रकारं प्रश्नपूर्वकमवतारयति—कथमित्यादिना । बहूनां मुख्यवृत्ति-  
मतामिति शेषः । मुख्यया यथावसरं ज्ञात्वा शुश्रूषणे प्रवृत्तिरूपयेत्यर्थः । शिष्यादी-  
त्यादिपदेन पुत्रभार्यादयो गृह्यन्तेः । मध्यमवृत्तिभाजा शिष्यादीनां मध्यमानाम् । चकारो  
वृत्तिद्वयं कालभेदेन नचिकेतसि वदत इति द्योतनार्थः । मध्यमयैवेति । आज्ञादि-  
वशेन शुश्रूषणे प्रवृत्तिरूपयेत्यर्थः । नाधमया । त्रानिना वापि । सञ्जुश्रूषणेऽप्रवृत्ति-  
रूपया । पित्रादिना कापितः कदाचिदप्यधमया नैमीत बन्धः । एवं विशिष्टगुणं हीन-  
वृत्तिरहितम् । मुख्यमध्यमवृत्तिभाजा गुणवतः पुत्रस्य मृत्यव दानमन्वितामित्याह—  
अपि पुत्रमिति । मया प्रत्तेन दत्तेन द्वारा यत्कर्तव्यमद्य यमस्य करिष्यति तत्प्रयो-  
जनं किं कर्तव्यमसीन्न ऽऽसीदेव विधानाभावात् । कथं तर्ह्युक्तवानित्यत आह—नूनमिति ।  
नूनं निश्चयः । अपेक्षितं पूर्यन्नुत्तरमवतारयति—तथाऽपीति । तच्च । तत्पुत्रं मा  
भूदित्येवं परिदेवनापूर्वकं किं मयोक्तमिति शोकाविष्टं प्रथममाहत्यन्वयः ॥ ५ ॥

१ अ. 'ध्यतीति । २ अ. 'णां वा शिष्यादीनां वै' । ३ ग. च 'नां वा व' । ४ क. ख. ग.  
घ. ज. ड. 'वे द' । ५ ग. 'या दत्ते' । ६ क. 'न किं क' । ७ अ. ड. 'द्वयममुच्यं का' ।  
८ ट. 'तः क' । ९ ठ. 'भाज गु' ।

अनुपश्य यथा पूर्वं प्रतिपश्य तथाऽपरे । सस्यमिव

मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः ॥ ६ ॥

अनुपश्याऽऽलोचय निभालयानु क्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः  
पूर्वेऽतिक्रान्ताः पितृपितामहादयस्तव । तान्दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातुम-  
र्हसि वर्तमानाश्चापरे साधनो यथा वर्तन्ते तांश्च प्रतिपश्याऽऽलोचय तथा ।  
न च तेषु मृषाकरणं वृत्तं वर्तमानं वाऽस्ति । तद्विपरीतमसतां च वृत्तं  
मृषा करणम् । न च मृषा कृत्वा कश्चिदज्जैरामरो भवति । यतः सस्य-  
मिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते । मृत्वा च सस्यमिवाऽऽजा-  
यत आविर्भवति पुनरेवमनित्ये जीवलोके किं मृषाकरणेन । पाल-  
याऽऽत्मनः सत्यम् । प्रेषय मां यमायेत्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

आ० टी०—॥ ६ ॥

गो० टी०—निभालयेति । दीर्घालोचनं कुर्वित्यर्थः । उपसर्गं व्याचष्टे—  
अन्विति । क्रमेण । पितृपितामहाः क्रमेण वृत्ताः स्वधर्मे सत्यवचनादौ स्थिताः ।  
तव पितृपितामहाः क्रमेण प्रकारेण वृत्तास्तं प्रकारमालोचयेत्स्वयम् । तद्वृत्ता-  
लोचनेन मम किं स्मरितं वा आह—तानिति । वृत्तं सत्यवचनादस्थातुं प्राप्तुमर्हसि  
योग्यो भवतीत्यर्थः । आलोचयेत्यनन्तरं तांश्च दृष्ट्वा तेषामपि वृत्तं प्राप्तुमर्हसीत्यनु-  
षङ्गः । न च तद्वृत्तमसत्यवचनादिसहितमित्याह—न चेति । वृत्तं भूतम् । ननु  
भूताभावेऽपि वर्तमानं भवि वा स्यादित्यत आह—वर्तमानमिति । वाशब्दोऽ-  
नुक्तभविष्यद् संग्रहार्थः । प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधत्वेऽसद्वृत्तं नेति भाः । ननु मृषा-  
करणं चेद्देवत्वादिप्राप्तिहेतुस्तदा तत्र गोऽनुचित इत्याशङ्क्य तदेव नेत्याह—न चेति ।  
तत्र हेतुत्वेन वाक्यमवतारयति—यत इति । सस्यमिवेति । यथा तस्य फलितं रस-  
वियुक्तं नश्यत्येवं मनुष्योऽपि जीर्णो वृद्धावस्थां प्राप्य म्रियते देहं त्यजतीत्यर्थः । न  
केवलं जरा मरणवानेव किंतु जनिमान इत्याह—मृत्वा चेति । अस्माद्वयसमुच्च-  
यार्थश्चकारः । सस्यमिवेति । प्रावृट्काले वर्षासिक्तं सस्यं यथा प्रादुर्भवति तथा  
संचितकर्मोद्धवे मनुष्योऽपि देहान्तं प्राप्नोतीत्यर्थः । पुनराविर्भवति म्रियते च यतोऽतो  
न काश्चिन्मृषा कृत्वाऽज्जैरामरो भवतीत्यन्वयः । प्रतिपदं वारुणाय तात्पर्यार्थमाह—एव-  
मिति । किं प्रयोजनं न किमपीत्यर्थः । यमाय प्रेषय तदन्वात्मनः सत्यं पालयेत्य-  
न्वयः ॥ ६ ॥

१ झ. अ. ठ. 'र्हसीति व' । २ ग. ड. च. झ. ज. ट. तेषां । ३ ज. 'नं भविष्यद्वाऽस्ति ।  
४ ग. घ. च. 'रणं वा । न । ५ ड. झ. अ. ठ. 'जगोऽम' । ६ झ. अ. ट. च. तत एव स' ।  
७ झ. ट. 'जराम' ।

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।

तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

स एवमुक्तः पिताऽऽत्मनः सत्यतायै प्रेषयामास । स च यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीरुवास यमे प्रोषिते । प्रोष्याऽऽगतं यमममात्स्या भार्या वा ऊचुर्बोधयन्तो वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात्प्रविशत्यतिथिः सन्ब्राह्मणो गृहान्दहन्निव तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेरतां पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्त सन्तोऽतिथेर्यतोऽतो हराऽऽहर हे वैवस्वतोदकं नचिकेतसे पाद्यार्थम् । यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते ॥ ७ ॥

आ० टी०—श्रुत्यनुक्तपूर्वभाषणादिकमपि कथायामपेक्षितं पूरयति—स एव मुक्तः पितेति ॥ ७ ॥

गो० टी०—श्रुत्यनुक्तपूर्वभाषणादिकं कथायामपेक्षितं पूरयति—स एवमुक्त इति । सत्यतायै वच.सत्यत्वाय । प्रोषिते ब्रह्मभवनं गते । नचिकेता यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीरुवासेत्यन्वयः । प्रोष्य ब्रह्मभवनं गत्वा तस्पादागतं यमं बोधयन्त ऊचुरित्यन्वयः । अतिथिः सन्ब्राह्मणः साक्षात्प्रविशत्यतिथिः दहन्निव गृहान्प्रविशति । तस्याग्नेर्दाहं शमयन्त इव सन्तोऽतिथिः शान्तिं कुर्वन्ति यत इत्यन्वयः । किमर्थमित्यपेक्षायामाह—नचिकेतस इति । नन्वानिथेः पूजा किमिष्टप्राप्तयेऽथा निष्टनिवृत्तये नोभयं मान भाषादिन्याशङ्क्य यस्याग्निहोत्रामन्यादिश्रुतेरकरणे प्रत्यवायान्नित्यकर्मवत्करणेऽभ्युदय इति मत्वाऽह—यत इति । चकारः शिष्टाचारावगताभ्युदयहेतुत्वे समुच्चयार्थः ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूश्च  
सर्वान् । एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्र-  
न्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

आशाप्रतीक्षे अनिर्ज्ञातप्रार्थ्येष्टार्थनाऽऽशा निर्ज्ञातप्रार्थ्यार्थप्रतीक्षणं प्रतीक्षा ते आशाप्रतीक्षे । संगतं तत्संयोगजं फलं सूनृतां च सूनृता हि प्रिया वाक्कान्निमित्तं च । चेष्टापूर्ते इष्टं यागजं पूर्तमारामादिक्रियाजं फलम् । पुत्रपशूश्च पुत्रांश्च पशूंश्च सर्वानैतत्सर्वं यथोक्तं वृङ्क्त-आवर्जयति विनाशयतीत्येतत् । पुरुषस्याल्पमेधसोऽलापज्ञस्य । यस्या-

१ घ. °गतममा° । २ ठ °ग्निरेव । ३ क ड. च. °प्राप्तं इष्टा° । ग. प्राप्त इष्टा° । ४ क ग. ष. ड. च. °प्राप्त्यर्थं° । ५ ग. ड. च. °गयो° । ६ ग. घ. ड. झ. ञ. ट. °ता प्रि° । ७ झ. ब. ट. यागादिजं ।

नश्रन्नभुञ्जानो ब्राह्मणो गृहे वसति । तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वावस्था-  
स्वप्यातिथिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

आ० टी०—॥ ८ ॥

गा० टी०—श्रवणमेव व्याकरोति—आशत्यादिना । अनिर्ज्ञातोऽन्यन्तमज्ञातः  
प्राप्यः प्राप्तुं योग्यः कनकाचलादिस्तस्य प्रार्थना मम भूयादितिच्छा । नितरां प्रत्यक्षा-  
दिना ज्ञातः प्राप्योऽर्थो राज्यादिर्यस्याः सा प्रतीक्षेत्यर्थः । योगो देवताध्यानं तज्जं संग-  
तमित्यर्थः । तन्निमित्तमिति । सा प्रियवाङ् निमित्तं यस्य तत्तन्निमित्तं फलमित्यनुव-  
र्तते । यागजं स्वर्गाद्यारामादिक्रियाजं पितृलांकादि । कीदृग्बिषस्येत्यल्पमेघम इति ।  
को नाशयतीत्यपेक्षायामाह—यस्येत्यादिना । यस्य गृहेऽभुञ्जानो ब्राह्मणो वसती-  
त्यन्वयः । तात्पर्यार्थमाह—तस्मादिति । यस्मादनश्रन्नतिथिः सर्वं नाशयतीति प्रत्यवायः  
श्रूयते यस्माच्च वृद्धाः पाद्यादिभिर्गतिथिं पूजयन्ति तस्मादित्यर्थः । सर्वावस्थास्विति ।  
कष्टायामप्यापदित्यर्थः । अपिशब्दात्स्वस्थावस्थायां । कमु वक्तव्यमिति भावः ॥ ८ ॥

तिस्रो रात्रीर्यद्वात्सीर्गृहे मेऽनश्रन्ब्रह्मन्नतिथिर्न-  
मस्यः । नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मा-  
त्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥ ९ ॥

एवमुक्तो मृत्युरुवाच नचिकेतसमुपगम्य पूजापुरःसरम् । तिस्रो  
रात्रीर्यद्यस्माद्वात्सीरुषितवानसि गृहे मे ममानश्रन्हे ब्रह्मन्नतिथिः सन्न-  
मस्यो नमस्कारार्हश्च तस्मान्नमस्ते तुभ्यमस्तु भवतु । हे ब्रह्मन्स्वस्ति भद्रं  
मेऽस्तु तस्माद्भवतोऽनशनेन मद्गृहवासनिमित्ताद्दोषात्तत्प्राप्त्युपशमेन ।  
यद्यपि भवदनुग्रहेण सर्वं मम स्वस्ति स्यात्तथाऽपि त्वदधिक्रमं सादना-  
र्थमनशनेनोपोषितामेकैकां रात्रिं प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्वभिषेता । विशेषा-  
न्मार्थयस्व मत्तः ॥ ९ ॥

आ० टी०—॥ ९ ॥

गो० टी०—एवमुक्तो भार्याभिरमात्यैश्चेति शेषः । पूजापुरःसरं न चिकेतसमुपसं-  
गम्य समीपं गत्वा मृत्युरुवाचेत्यन्वयः । वचनप्रकारमेव प्रतीकमादाय व्याचष्टे—  
तिस्र इति । यस्माद्गृहेऽनशनपूर्वकमुषितवान्नमस्कारयोग्यश्च तस्मादित्यर्थः । तस्मा-  
दित्युत्तरवाक्यादिपदोक्ताद्वाषादुःशमनं प्रार्थयते—स्वस्तीति । अनशनेनानशनपूर्व-  
कम् । तत्प्राप्त्युपशमेन दोषप्राप्तेरुपशमा निगमस्तेन द्वा(स्तद्वा)रा । नन्वतिष्ठन्नु-

ग्रहेणैव सर्वं संपत्स्यते किं वरदानेनेत्याशङ्क्य परिहरति—यद्यपीत्यादिना । प्रसा-  
दनं प्रार्थनम् । उषितां स्थिताम् । अभिप्रेता इच्छाविषयास्तान् ॥ ९ ॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो  
मांऽभि मृत्यो । त्वत्प्रसृष्टं मांऽभिवदेत्प्रतीत एतन्न-  
याणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

नचिकेतास्त्वाह—यदि दित्सुर्वरांश्चान्तसंकल्प उपशान्तः संकल्पो  
यस्य मां प्रति यमं प्राप्य किंनु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्तसंकल्पः  
सुमनाः प्रसन्नमनाश्च यथा स्याद्वीतमन्युर्विगतरोषश्च गौतमो मम पिता  
मांऽभि मां प्रति हे मृत्यो किंच त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं  
प्रति मामभिवदेत्प्रतीतो लब्धमृतिः स एवायं पुत्रो ममाऽऽगत इत्येवं  
प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः । एतत्प्रयोजनं त्रयाणां वराणां प्रथममाद्यं वरं वृणे  
प्रार्थयेद्यं यत्पितुः परिगोषणम् ॥ १० ॥

आ० टी०—प्रेतीभूतोऽयमागतो न वलोकनीय इति मत्वोपक्षां यथा न करोति  
तथा प्रसादं कुर्वित्याह—किंच त्वत्प्रसृष्टमिति ॥ १० ॥

गो० टी०—दित्सुर्वरांश्चान्तः । यमं प्राप्य किंनु करिष्यति मत्पुत्र इति संकल्पः  
शान्तो मां प्रति यस्य स शान्तसंकल्प इत्यन्वयः । मृत्यो मां प्रति शान्तसंकल्पः  
सुमना वीतमन्युश्च यथा स्यान्मत्पिता गौतम एतत्प्रयोजनमित्यन्वयः । प्रेतीभूतो यमा-  
दागतोऽनवलोकनीय इति मत्वोपक्षां यथा न करोति तथा प्रसादं कुर्वित्याह—किंच  
त्वत्प्रसृष्टमिति । मांऽभि मां प्रति लब्धमृति रित्येतद्वशाच्चे—स एवेति । यत्पितुः  
परितोषणमेतत्त्वहत्तानां वराणां माद्यं वरं वृण इत्यन्वयः ॥ १० ॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्म-  
त्प्रसृष्टः । सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां  
ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

मृत्युरुवाच—यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात्पूर्वमासीत्स्नेहसमन्विता पितु-  
स्तव भविता प्रीतिसमन्वितस्तव पिता तथैव प्रतीतः प्रतीतवान्सौद्दा-  
लकिः । उद्दालक एचौद्दालकिः । अरुणस्यापत्यमारुणिद्वर्षामुष्यायणो

१ ख. ममाभि । २ ग. च. डा. 'रान्भगवत्शा' । ३ ग. च. 'न्युर्वीतिकोधरो । घ. 'न्युर्वी-  
तरो' । ४ ग. घ. च. 'मा माम' । ५ ग. घ. च. पुत्रः समा' । ६ घ. 'माद्यव' । ७ ड. ज. झ.  
व. ङ. 'ये य' । ८ ड. 'न्युस्त्वा द' । ९ ख. ज. ततो मृत्युरुवाच । ग. तन्मृत्युरुवाच । १० घ. च.  
'तः प्रीत' ।

वा मत्प्रसृष्टो मयाऽनुज्ञातः सन्नितरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः  
शयितां स्वप्ना वीतमन्युर्विगतमन्युश्च भवितां स्यात्त्वां पुत्रं दृष्टवान्दृ-  
ष्टवान्मं मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात्प्रमुक्तं सन्तम् ॥ ११ ॥

आ० टी०—औद्दालिकिरिति तद्धितः स्वार्थे व्याख्यातोऽपत्यार्थे व्याख्येय इत्याह—  
द्वयामुष्यायणो वेति । अमुष्य प्रख्यातस्यापत्यमामुष्यायणः द्वयोः पित्रोः पूर्वभाषा-  
दिना संबन्धी चासावामुष्यायणश्च । न जारज इत्यर्थः ॥ ११ ॥

गो० टी०—प्रथमेन वरेण पितुः सौमनस्यं वृण्वते नचिकेनसे वरप्रदानपरत्वेनोत्तर-  
मवतारयति—मृत्युरिति । पूर्वं वैवस्वतगमनात्स्वत्पिता यथा स्नेहसमन्वित आसीत्तथैव  
प्रीतिमान्प्रतीतवान्प्रत्यभिजानन्भवितेत्यन्वयः । यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात्पूर्वमासीत्स्ने-  
हसमन्विता भविता प्रीतिसमन्वितस्वत्पिता तथैव प्रतीतः । प्रतीतवान्प्रतीति पाठे  
यथा पूर्वस्नेहसमन्विता बुद्धिस्त्वय्यासीत्तथैव बुद्धिः पितुर्भवितेत्येकोऽन्वयः । द्विती-  
यस्तु यथा पूर्वं प्रीतिसमन्वितस्वत्पिता तथैव प्रतीतवान्सन्त एवायं पुत्र इतिप्रत्यभि-  
ज्ञावान्संस्वत्पिता प्रीतिसमन्वितो भवितेति । प्रतीत इत्यस्य प्रतीतिमानिति क्वचि-  
त्पाठः । औद्दालिकिरिति । तद्धितं स्वार्थे व्याख्यायापत्यार्थे व्याचष्टे—द्वयामुष्या-  
यण इति । अमुष्य प्रख्यातस्यापत्यमामुष्यायणः । उत्पन्नः पुत्रोऽस्यामुभयोरिति  
भाषादिना द्वयोः संबन्धी द्वयामुष्यायणो न जारज इत्यर्थः । अनुज्ञातोऽनुग्रहसं-  
पन्नः । सुखमनायासं स्वप्ना स्वापकर्ता स्यात्प्रमुक्तं सन्तं त्वां दृष्टवान्वीतमन्युः  
स्यान्मया यमाय प्रेरितो मद्बचनमुल्लङ्घ्य समागत इतिबुद्धिरहितः स्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न  
जरया विभेति । उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोका-  
तिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

नचिकेता उवाच—स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किञ्चन किञ्चि-  
दपि नास्ति । न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्यतो जरया युक्त इह  
लोकैवत्त्वतो न विभेति कुतश्चित्तत्र । किञ्चोभे अशनायापिपासे तीर्त्वाऽ-  
तिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन्मानसेन दुःखेन  
वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये ॥ १२ ॥

१ ग. घ. च. 'ता सुप्तो वी' । २ ग. घ. च. 'न्युर्गत' । ३ ज. 'ता स्म स्या' । ४ ग. ड.  
झ. ञ. ट. 'न्सन्मृत्यु' । ५ ड. झ. ञ. ठ. 'खान्मद्गोच' । ६ ग. ड. झ. ञ. ट. 'क इव च स्वतो ।  
७ च. 'ति कश्चि' । ८ ख. ग. झ. ञ. 'न च. व' ।

आ० टी०—स्वर्गसाधनमग्निज्ञानं प्रष्टुं स्वर्गस्वरूपं तावदाह—स्वर्गे लोक इति॥१२॥

गो० टी०—पितुः सौमनस्ये दत्ते स्वर्गसाधनमग्निज्ञानं प्रष्टुं स्वर्गरूपं तावदाह—  
स्वर्गे लोक इति । आदिपदादाधिभौतिकाधिदैवावकचौरादिसंग्रहः । ननु रोगदिति-  
मित्तभगभावेऽपि मन्त्रामत्तं स्यादित्यत आह—न चेति । सहसा प्रभवसि झटिति  
प्रभवसीत्यर्थः । यत एवमतो जरादियुक्तः सन्निह लोक इव तत्र काश्चिदपि त्वत्तो न  
त्रिमेतीत्यन्वयः । उभे तीर्त्वेति वाक्यमन्वयमुखेन व्याचष्टे—किं चेत्यादिना । अति-  
क्रम्याप्राप्येत्यर्थः । शांकातिगः सञ्शोकमतिक्रान्तः सन् । शोकशब्दार्थमाह—मान-  
सेनेति । चकाराद्वाह्यनिमित्तदुःखराहित्यमुच्यते । दुःखभावे सुखस्य संभावितत्वा-  
दाह—मोदत इति ॥ १२ ॥

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमद्वेषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्ध-  
धानाय मह्यम् । स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एत-  
द्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं स त्वं मृत्युरध्वेषि  
स्मरसि जानासीत्यर्थः । हे मृत्यो यतस्त्वं प्रब्रूहि कथय श्रद्धधानाय श्रद्धा-  
वते मह्यं स्वर्गार्थिने । येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते  
स्वर्गलोका यजमाना अमृतत्वममरणां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति तदेतद-  
ग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे ॥ १३ ॥

आ० टी०—॥ १३ ॥

गो० टी०—एवंगुणविशिष्टस्येति । भयमरणाशनायापिपासाशोकरहितत्वगुणेन  
विशिष्टस्येत्यर्थः । अवबोधहेतुमाह—हे मृत्यो इति । देवतात्वाज्ज्ञानमस्तीति भावः ।  
ज्ञानफलं किमित्यपेक्षायामाह—यत् इति । अत इत्यध्याहारः । अग्निज्ञानं श्रद्धा-  
रहिताय तत्फलेच्छाविरहिणे च न वाच्यमित्यत आह—श्रद्धधानायेति । श्रद्धया  
स्वर्गार्थित्वमुपलक्ष्यत इत्याह—स्वर्गार्थिन इति । देवत्वप्राप्तिं हेतुमाह—येनेति । चि-  
तेनोपासितेनेत्यर्थः । यस्मादमृतत्वसाधनमग्निस्तस्मादेतस्याग्नेर्विज्ञानं वृणे प्रार्थये ॥ १३ ॥

प्र ते ब्रवीमि तद्दु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः  
प्रजानन् । अनन्तलोकाग्निमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं  
निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

१ क. ड. झ. ञ. ट. तत् । २ क. ख. ज. 'ग्निं स्वर्ग्यं स । ३ घ. मृत्यो अध्वे' । ४ च.  
'स्यो यम य' । ५ ङ. झ. ञ. ट. 'तस्तं प्र' । ६ क. ख. स्वर्गलो' । ७ घ. अमरणात्वं दे' ।

मृत्योः प्रतिज्ञेयम् । प्र ते तुभ्यं प्रब्रवीमि<sup>२ ३</sup> । यत्त्वया प्रार्थितं तदु मे मम वचसो निबोध बुध्यस्वैकाग्रमनाः सन्स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गसाधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन्विज्ञातवानहं सन्नित्यर्थः । प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्य- बुद्धिसमाधानार्थं वचनम् । अधुनाऽग्निं स्तौति—अनन्तलाकाग्निं स्वर्गलो कफलप्राप्तिसाधनमित्येत्त् । अयो अपि प्रतिष्ठाप्राश्रयं जगतो विराड् रूपेण तमेतमग्निं मया च्यमानं विद्धि जानीहि त्वं निहितं स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः ॥ १४ ॥

आ० टी०—इयं च वक्ष्यमाणा मृत्याः प्राज्ञाऽगन्तव्या । “ स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुत ” इति श्रुतेराग्निवाच्यवदित्यरूपेण समाष्टरूपो विराडेव व्यवस्थित इति तेन विराड् रूपेणाग्निर्जगतः प्रतिष्ठत्युच्यते ॥ १४ ॥

गो० टी०—प्रब्रवीमीत्यन्वयः । उ यादित्यर्थे । यत्त्वया प्रार्थितं तत्प्रब्रवीमि मे वचसो निबोधेत्यन्वयः । अस्मच्छब्दस्य वचने लक्षणेत्याह—वचस इति । वाक्या- देकाग्रमनाः सावधानचित्तः सन् । हितार्थे यत्प्रत्यय इत्याह—स्वर्गायेति प्रतिज्ञायाः संबोधनस्य च किं प्रयोजनमित्यपेक्षायामाह—प्रब्रवीमीति समाधानं विषयान्तरा- वृत्तिपूर्वकं चित्तस्यैकविषयत्वापादनं तदर्थमित्यर्थः । प्रोचनायाः प्रवृत्तिहेतुत्वमित्यभि- प्रेत्याऽऽह—अधुनेति । स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुनाति श्रुतरग्निवाच्यवदित्यरूपेण समा- ष्टिरूपो विराडेव व्यवस्थित इति तेन विराड् रूपेणाग्निर्जगतः प्रतिष्ठत्युच्यते ॥ १४ ॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा  
यथा वा । स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य  
मृत्युः पुनरेवाऽऽह तुष्टः ॥ १५ ॥

इदं श्रुतेर्वचनम् । लोकादिं लोकानामादिं प्रथमशरीरित्वादिभिं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थितमुवाचोक्तवान्मृत्युस्तस्मै नचिकेतसे । किंच या इष्टका- श्वेतव्याः स्वरूपेण । यावतीर्वा संख्यया । यथा वा चीर्दतेऽग्निर्पेन प्रकारेण सर्वभेदतुक्तवानित्यर्थः । स चापि नचिकेतास्मृत्युर्नोक्तं यथा वत्प्रत्यये- नावदत्प्रत्युच्चारितवान् । अथ तस्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः सन्मृत्युः पुनरेवाऽऽह वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुः ॥ १५ ॥

१ ध. °म् । ते । २ झ. °वीमीति । य° । ३ घ. °मि । तत्त्वत्प्रार्थि° । ४ य. °र्थः । ते प्र° । ५ झ. प्र तेति प्रब्र° । ६ ग. घ. ङ. °न्तस्वर्गलो° । ७ छ. झ. ञ. ट. °राड्स्वरु° । ८ ग. घ. °दि विजा° । ९ छ. ज. °नराह । १० ग. छ. ङ. ट. रीरत्वा° । ११ झ. ङ. ट. °यन्तेऽग्नी येन° । १२ क. ख. ज. °स्तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य प्र° । १३ झ. ङ. ट. °क्तं प्रत्यवदत् । य° । १४ झ. ञ. ट. अथास्य ।



आ० टी०—सप्रपञ्चमग्निज्ञानं चयनप्रकरणाद्द्रष्टव्यमिति श्रुतिरस्मान्बोधयती-  
त्याह—इदं श्रुतेर्वचनमिति ॥ १५ ॥

गो० टी०—सप्रपञ्चमाग्निज्ञानं च येन प्रकारेण द्रष्टव्यमिति श्रुतिरस्मान्बोधयती-  
त्याह—इदं श्रुतेर्वचनमिति ।

स वै शरीरो प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।

आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माऽप्रे सावर्तत ॥

इति स्मृतेर्विगजोऽग्नेरादित्वं प्रकृतत्वं वाचष्टे—नचिकेतसोति । वक्ष्यमाणमपि  
श्रुतेर्वचनमित्याह—किंचेति । चेतवशा उपधातव्याः स्वरूपेणेति पूर्वेणान्वितम् । यथा-  
शब्दार्थमाह—येनेति । तत्तदिष्टकापकाशकतत्तन्मन्त्रोच्चारणेनेत्यर्थः । तदग्निज्ञानं यथो-  
क्तावधारणसामर्थ्यं नचिकेतस आह—यथावदिति । यथोक्तमग्निं यमं प्रति प्रत्युच्चारि-  
तवान्प्रतिपादितवानित्यर्थः । अथ नचिकेतसः प्रत्युक्त्यनन्तरमस्य नचिकेतसः प्रत्यु-  
च्चारणेन तुष्टो मृत्युर्वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुर्दातुमिच्छुः पुनरेवाऽऽहोक्तवा-  
निति योजना ॥ १५ ॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि  
भूयः । तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्कां चेमामने-  
करूपां गृहाण ॥ १६ ॥

कथं तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन्प्रीयमाणः  
प्रीतिमनुभवन्महात्माऽक्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह प्रीतिनिमित्तमथे-  
दानीं ददामि भूयः पुनः प्रयच्छामि । तवैव नाम्ना नचिकेतसो नाम्नाऽभि-  
धनेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमानोऽयमग्निः । किंच सृङ्कां शब्दवतीं  
रत्नमयीं मालामिमामनेकरूपां विवित्रां गृहाण स्त्री कुक् । यद्वा सृङ्का-  
मकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण । अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफल-  
हेतुत्वात्स्त्री कुर्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

आ० टी०—॥ १६ ॥

गो० टी०—व. नमेव प्रश्नपूर्वमाह—कथांमत्यादिना । शिष्ययोग्यतां यथो-  
क्ताप्रहणपूर्वकारणख्याम् । मृदुं प्रहीष्यतीत्यलिम्बुद्धिः क्षुद्रबुद्धिः सा न  
विद्यते यस्य तेऽतुद्रबुद्धः । चतुर्थमिति । गितुः सौमनस्याग्निविद्यात्मविद्यापेक्षया  
चतुर्थमित्यर्थः । इहेति वाच्ये—प्रीतिनिमित्तमिति । प्रतिनिमित्तं प्रयोजनं यस्य

१ क घ. ड. च. 'मथेदा' । २ क. च. 'यः प्र' । ३ ग ड. ड. 'व च न' । ४ क. च.  
'भिः सृ' । ५ क. च. 'सृङ्कामाकु' । ड. 'सृङ्का वा कु' ।

तत् । किं तत्प्रयोजकमिन्त्यपेक्षायामाह—तत्रैवेति । प्रसिद्ध इति । नाचिकेन इति त्वन्नाम्ना प्रसिद्धिं गमिष्यतीत्यर्थः । नैवावन्मात्रं वर्गमन्यदर्पति नचिकेतसं प्रलेभ्य-  
न्नाह—किंचेति । शब्दवत्त्वे हेतुमाह—रत्नवतीमिति । रत्नमयीने पाठान्तरम् । योग्यतयेदशब्दस्य सानहितमालार्थकत्वमित्याह—मालामिति । अनेकरूपामनेकानि  
रूपाणि नीलाग्निने यस्यां सा तामत एव विचित्रामित्यर्थः । सृष्टिधातोर्गत्यर्थमादा-  
याऽह—यद्वेति । अकुत्सितां गतिमिति । अकुत्सिता गतिर्धूमदिनाऽर्चिगादिना  
च प्राप्यं फलं तामित्यर्थः । नन्वकृते कर्मणि लाभभावात्कथं वरप्रदानेन कर्मफल प्राप्ति-  
रित्य शङ्क्य तात्पर्यार्थमाह—अन्यदपीत्षादिना । कर्मविज्ञानं सूक्ताशब्दलक्ष्यं फल-  
तोऽनेकरूपं शास्त्रसिद्धं स्वी कुर्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

पुनरपि कर्मस्तुतिभेवाऽऽह—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्म-  
मृत्यू । ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमांश्च  
शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्त-  
द्विज्ञानंस्तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा । त्रिभिर्मातृपित्राचारैरेत्थ प्राप्य  
संधिं संधानं संबन्धं मात्राद्यनुशासनं यथावत्प्राप्येत्येतत् । तद्धि प्राप्ता-  
ण्यकारणं श्रुत्यन्तरादवगम्यते । यथा मातृमाँन्यतृमानित्यादेः । वेदस्मृ-  
तिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा । तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा त्रिकर्म-  
कृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू । किंच ब्रह्मजज्ञं  
ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः । ब्रह्मजश्चासौ ब्रह्मेति ब्रह्मजज्ञः  
सर्वज्ञो ह्यसौ । तं देवं द्योतनाज्ज्ञानादिगुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा  
शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वा चाऽऽत्मभावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिमुपर-  
तिमत्यन्तमेत्यतिशयेनेति । वैराजं पदं ज्ञानरूपं समुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नो-  
तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

आ० टी०—विशुद्धिरिति धर्माद्यवगतिः । दृष्ट्वा चाऽऽत्मभावेनेति । अन्वयः—  
विशत्यधिकानि सप्त शतानीष्टानां संख्या संवत्सरस्याहोरात्राणि च तास्तसंख्यान्येव  
संख्यासामान्यारैरिष्टकस्थानीयैश्चितो त्रिहिनित्यात्मभावेन ध्यान्वेति ॥ १७ ॥

१ क्ष वा. ट. ठ. प्राप्यफलता । २ ज. झ. ट. 'ज्ञानवन्वा तदध्ययनवान्वा' । ३ क. च.  
'मस्तदमु' । ४ क. ख. च. ज. 'मानि' । ५ ख. च. 'न्म च मृत्युं च जन्ममृ' । ६ अ. 'त्वा  
गृहीत्वा शा' ।

गो० टी०- प्रातिनिमित्ताधिकवरदानानन्तरमवाशिष्टमग्निज्ञानस्य फलं वदिष्यन्पुनरपि तत्स्ति मह— पुनरपीति । त्रिकृत्वस्त्रिवारं नाचकेतोऽग्निश्चितो येन तद्विज्ञानवता स त्रिणाचिकेत इति । अर्थान्तरमाभेत्त्याऽह—तद्विज्ञानवान्वेति । यथावद्यथाकालमुपनयनपर्यन्तं मातृना वेदाभ्यनपर्यन्तं पितृन आचार्यनः शिक्षां प्राप्येत्यर्थः । तदनुशासनमनपक्ष्य कर्मविज्ञानमात्रात्रिकर्मकृत्याऽन्याशङ्क्याऽह—तद्धीति । तदनुशासनं हिशब्दः स्मार्तप्रतिद्विद्योक्तः । प्राप्ताण्यकारणं धर्मज्ञानस्येति शेषः । यथा मातृमान्नि-तृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनोऽब्रवीदिति श्रुत्यन्तरान्मात्राद्यनुशासनं प्राप्ताण्यकारणमवगम्यत इति योजना । वेदाश्च स्मृतयश्च शिष्टाश्च तैः प्रत्यक्षं चानुपानं चऽऽगमश्च तैः संधेय्येत्यर्थः । विशुद्धवर्माद्यवगतिः । इज्या ज्योतिष्टोमादियगोऽध्ययनं वेदस्य दानं बाह्वोरे दीयमानम् । यथा त्रिकर्मकृत्तरति तथा त्रिणाचिकेत इति मृत्विद्वारा फलं प्रदर्श्य फलान्तरमपि सविज्ञानमाह—किंचेति । हि यस्माद्धेरण्यगर्भं शस्तस्मात्सौ सर्वज्ञ इत्यर्थः । द्योतनादिगुणवन्मादित्यादिरूपत्वादिने शपः । ईड्यं प्रतिमासमृषिर्विदेवगन्त्रैश्च गतुयत इति पुगणे प्रसिद्धम् । दृष्ट्वा चऽऽम्भावेनेति । अयमर्थः— विशन्त्याधिकानि सप्त शतानीष्टकानां संख्या संवत्सरस्य च प्रातःपायंकालयोगनुष्ठीयमानान्यग्निहोत्राणि तावत्संख्याकन्येव तौरष्टकस्थानीयैश्चिोऽग्निरहमि यात्मभवेन ध्यात्वात् स्वबुद्धिः स्वेन कर्तव्या बुद्धरूपासना तथा साक्षात्कृतां शान्तिं वि(वै)राजं फलम् । तात्पर्यार्थमाह—वैराजमिति । ज्ञानमुपासनं चयनं कर्म ॥ १७ ॥

इदानीं अग्निविज्ञानचयनफलमुपपहगतं प्रकरणं च—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते  
नाचिकेतः । स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो  
मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयं यथोक्तं या इष्टहा यावतीर्वा यथा केन्येतद्विदित्वाऽवगम्य यश्चैवमात्मरूपेणाग्निं विद्वांश्चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रुं स मृत्युपाशानधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान्पुरतोऽग्रतः पूर्वमेव शरीरपातादित्यर्थः । प्रणोद्यापहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वाजित इत्येतत् । मोदते स्वर्गलोके वैराजे विरडान्पस्वरूपपतिपत्त्या ॥ १८ ॥

आ० टी०—॥ १८ ॥

गो० टी०— चशब्द उपमंहरतीति क्रयानुकर्षणार्थः । त्रयं किमित्यतो व्याचष्टे—

यथोक्तमिति । इष्टकानां स्वरूपं संख्याप्रकारश्चैतत्पूर्वोक्तम् । चशब्दः कर्मसमुच्चयार्थः । एवंशब्दार्थमाह— आत्मरूपेणेति । अग्निशब्देन तद्विषयकध्यानमुच्यते इत्याह— क्रतुमिति । संकल्पं ध्यानमिति यावत् । यो ध्यानं निर्वर्तयति यत्नेन करोति स इत्यन्वयः । पाशशब्दो बन्धकत्वगुणयोगादधर्माग्नीभिधत्त इत्याह—अधर्मेत्यादिना । कर्मादित्यपेक्षायामाह—शरीरेति । रागादिरहितो भूत्वाऽपहाय वैराजे पद इति शेषः । किंभूयेत्यपेक्षायामपेक्षितं पुरयति—विराडिति ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण । एतमग्निं तैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यः स्वर्गसाधनो यमग्निं वर-  
मवृणीथाः प्रार्थितवानसि द्वितीयेन वरेण सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोप-  
संहारः । किंचितमग्निं तैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासो जना इत्येतदेष  
षरो दत्तो मया चतुर्थस्तुष्टेन । तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व । तस्मि-  
न्हादत्त ऋणवानहमित्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

आ० टी० ॥ १९ ॥

गो० टी०— उक्तमुपसंहरति—एष इति । स्वर्ग्यः स्वर्गसाधनान्तर्यः । द्विती-  
येन वरेण यमग्निं वृतवानस्येष तेऽग्निर्वरोऽग्निरुक्त इत्यन्वयः । पौनरुक्त्यं परिहरति—  
उक्त इति । इदमप्युक्तोपसंहार इत्याह—किंचेति । ननु प्रार्थनामन्तरं स्वयमेव  
प्रेरणमनुचितमित्यत आह—अदत्त इति । तृतीये वर इति शेषः ॥ १९ ॥

एतावद्ध्यतिक्रान्तेन विधिप्रतिषेधार्थेन मन्त्रब्राह्मणेनावगन्तव्यं यद्व-  
रद्वयसूचितं वस्तु नाऽऽन्मतस्त्वविषययाथात्म्यविज्ञानम् । अतो विधि-  
प्रतिषेधार्थं विषयस्याऽऽन्मानि क्रियाकारकफलाध्यारोपेणलक्षणस्य स्वा-  
भाविकस्याज्ञानस्य संसारबीजस्य निवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्ववि-  
ज्ञानं क्रियाकारकफलाध्यारोपेणलक्षणशून्यमात्यान्तिकानिःश्रेयसप्रयोज-  
नं वक्तव्यमित्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते । तमेतमर्थं द्वितीयवैरपाप्त्याऽप्य-  
कृतार्थत्वं तृतीयवरगोचरमात्मज्ञानमन्तरेणेत्याख्यायिकया प्रपञ्चयति—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नाय-

१ घ. स्वर्ग्यो य° । २ ड. झ. ङ. ट. ठ. °धनं य° । ३ घ. °त्येष । ४ ख. झ. °देव व° ।  
५ ग. घ. °वानेवाह° । ६ ख. ग. घ. °षयं या° । ७ क. ख. ज. °र्थस्य वि° । ८ ग. च. ङ. ट.  
°लायध्या° । ९ क. ड. च. ज. °पल° । १० ग. घ. झ. ट. °पल° । ११ ठ. वरं प्राप्याप्य° ।

मस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणा-  
मेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

यतः पूर्वस्मात्कर्मगोचरात्माध्यसाधनलक्षणादनित्याद्विरक्तस्याऽऽत्म-  
ज्ञानेऽधिकार इति तन्निन्दार्थं पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते ।  
नचिकेता उवाच तृतीयं वरं नचिकेतो वृगीष्वेणुक्तं सन् । येयं विचि-  
कित्सा संशयः प्रेतै मृते मनुष्येऽस्तीत्येकेऽपि शरीरेन्द्रियमनोषु द्विव्य-  
तिरिक्तो देहान्तरसंबन्ध्यात्मेत्येकं नाद्यमस्तीति चैके नायमेवंविधेऽ-  
स्तीति चैकेऽतश्चास्माकं न प्रत्यक्षेण नापि वाऽनुमानेन निर्णयविज्ञान-  
मेतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ ईत्यत एतद्विद्यां विजानीयामहमनु-  
शिष्टो ज्ञापितस्त्वया । वराणांभेव वरस्तृतीयोऽवशिष्टः ॥ २० ॥

आ०—टी०— पितापुत्रस्नेहादिस्वर्गलक्षणमानं यद्वरद्वयसूचितं संसाररूपं तदेव  
कर्मकाण्डप्रतिपाद्यमात्मन्यारोपितं तन्निवर्तकं चाऽऽत्मज्ञानमित्यध्यारोपापवादभावेन  
पूर्वोत्तरग्रन्थयोः संबन्धमाह— एतावद्धीति । प्रथमवल्ली-माप्तिर्विन्ताख्यायिकाया  
अवान्तरसंबन्धमाह—तमेतमर्थमिति । देहव्यतिरिक्तत्वमित्ये वाधिविप्रनिपत्तेः  
संशयश्चेत्तर्हि प्रत्यक्षादिना स्वम्यैव निर्णयज्ञानसंभवात् निर्णयस्य निष्प्रयोजनत्वञ्च  
न तदर्थः प्रश्नः कर्तव्य इत्याशङ्क्याऽऽह— अतश्चास्माकमिति । प्रत्यक्षेण स्थाणौ  
निर्णीतं पुरुषो न वेति संदेहादर्शन इत्यतिरिक्तान्मात्तत्त्वञ्च संदेहादर्शान्न प्रत्य-  
क्षेण निर्णयः परलाकसंबन्ध्यात्मना च कस्यचिद्विज्ञानान्मात्तत्त्वञ्च त्रिानुमनेनापि  
निर्णय इत्यर्थः ॥ २० ॥

गो० टी०—पितुः सौमनस्यमारभ्य स्वर्गलक्षणान्तं यद्वरद्वयसूचितं संसाररूपमेव  
कर्मकाण्डप्रतिपाद्यमात्मन्यारोपितं तन्निवर्तकं चाऽऽत्मज्ञानमित्यध्यारोपापवादत्वेन पूर्वो-  
त्तरग्रन्थयोः संबन्धमाह— एतावद्धीति । अस्माद्गुरुद्वयसूचितं पितापुत्रस्नेहादि यद्वरद्वयो-  
तावदेवावगन्तव्यमित्यन्वयः । हिशब्द एवकारार्थः । विप्रिप्रतिषेधार्थेन प्रवृत्तिनवृत्त्य-  
र्थकेन मन्त्रब्राह्मणेनोपनिषद्व्यतिरिक्तनावगन्तव्यम् । एवकारार्थवर्त्यमाह— नाऽऽत्मेति ।  
आत्मतत्त्वविषयं यद्याथात्म्यविषयं विज्ञानम् । ए-मारोपं प्रदर्श्य तस्य स्वरूपहेतुफलै-  
रनुवादपूर्वकमपवादमाह— अत इति । यतो निवृत्त्यावपदत्वं कर्मकाण्डस्यात इत्यर्थः ।  
विध्यर्थः प्रवृत्तिनिषेधार्थो निवृत्तिगतद्विषयस्येत्यनेन प्रमाणोपन्यासः । स्वरूपमाह—

१ ख. ज. 'ते म' । २ ग. घ. च. 'ध्येऽस्ति' । ३ ग. च. 'केऽतोऽस्मा' । ४ क ख. ज.  
नाप्यनु' । घ. च. नापि चानु' । ५ ब. निर्णय' । ६ रा. ग. इत्येतद्वि' । ७ झ. ञ. ठ. 'व्यावृ-  
त्तिमा' ।

आत्मानि क्रियेति । आदिशब्देन प्रमातृप्रमेयसंग्रहः । हेतुमाह—स्वाभाविक-  
स्येति । अस्य व्याख्याऽज्ञानस्येति । तस्यानर्हेतुत्वं स्फुटयति—संसारबीजस्येति ।  
तस्माद्विपरीतं संसारमिदं ब्रह्मात्मैकमेव वृत्त्यारूढविज्ञानम् । तद्विपरीतं स्फुटयति—  
क्रियेति । आत्यन्तिकनिःश्रेयसं समाप्तविद्यानित्तिरानन्दावाश्च तदेव प्रयोजनं  
यस्य तत्तथा । प्रथमवृत्तासमाप्तिपर्यन्ताख्यायिकाया अन्तरतात्पर्यमाह—अपेक्षितं ।  
तं श्रुत्यादिप्रसिद्धमेतद्विद्वदनुभवप्रसिद्धम् । आत्मज्ञानमन्तरेण द्वितीयवरं प्राप्यः कृ-  
तार्थत्वमित्याख्यायिकया प्रपञ्चयतीत्यन्वयः । कामादिप्रलोभनाख्यायिका । विशेष  
माह—यत इति । पूर्वस्मात्पूर्वकाण्डोदितात्कर्मगोचरः कर्मपाध्यः तस्मादन एवानि-  
त्यत्वसानिशयत्वदोषेण दुष्टवान्स्माद्विरक्तस्य । इति तस्मादित्यर्थे । तन्नन्दार्थं  
कर्मनिन्दार्थं निन्दा च निवृत्तावुच्यते । आदिशब्दः पौत्रादिपरिग्रहार्थः । प्रलभनं  
रागानुकूलो व्यापारः । अपेक्षितं समर्पयन्नुत्तरमवतारयति—नचिकेता इति । उक्तः  
सन्नुवाचेत्यन्वयः । या सर्वसाधारणा । इयं प्रत्यक्षसिद्धा । मनुष्यग्रहणं प्राणिमात्रोपल-  
क्षणार्थम् । शरीरे पतित आत्माऽस्ति वा न वेति संशयो यः प्रसिद्धस्तद्विषयात्मा-  
स्तित्वं विद्यामित्यन्वयः । संशयस्य वादिविप्रतिपत्तिहेतुत्वात्तमाह—अस्तीति । शरी-  
रव्यतिरिक्तो नेत्येका विप्रतिपत्तिः । इन्द्रियव्यतिरिक्तो नेत्यपरा । मनोव्यतिरिक्ता  
नेत्यन्या । बुद्धिव्यतिरिक्तो नेत्यधिका । कर्ता भोक्ता वा न वेति विप्रतिपत्तिमूढकोऽ-  
शनायाद्यतीब्रह्माभेदविषयः संशयोऽन्यत्र धर्मादित्यत्र द्रष्टव्यः । वादिविप्रतिपत्तिमूलकः  
संशयश्चेत्तर्हि प्रत्यक्षादिना स्वस्यैव निर्णयसंभवात्तन्निर्णयार्थं प्रश्नोऽनयंक इत्यत आह—  
अतश्चेति । स्थणौ निर्णीतं पुम्षो न वेति संदेहादर्शनाद्देहादिव्यातारक्तात्मास्तित्त्वे  
च संशयदर्शनात् प्रत्यक्षेण तन्निर्णयः । परलोकसंबन्ध्यात्मव्याप्यालङ्गाभावान्नानुमानेन  
निश्चय इत्यर्थः । ननु तद्विज्ञानं निष्फलमित्याशङ्क्याऽऽह—एतद्विज्ञानेति । यस्मा-  
त्तदधीनपरमपुरुषार्थोऽन इत्यर्थः । एतदात्मास्तित्वम् । ननु पितुः सौमनस्यमप्यन्या-  
त्मविद्यापेक्षया तृतीयं तत्कथमेष वस्तुतीय इत्याशङ्क्य पाठक्रमापेक्षयाऽवशिष्टार्थक  
स्तृतीयशब्द इत्याह—अवशिष्ट इति ॥ २० ॥

किमयमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानार्हो न वेत्येतत्परिक्षणार्थ-  
माह—

दैवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयम्-

१ झ. ङ. ट. 'र्थत्वादित्या' । २ झ. ठ. 'लोभामाख्या' । ३ ग. घ. च. 'नायाऽऽत्म' । ४ क.  
झ. ज. 'रीक्षार्थ' । ५ क. छ. झ. ञ. ट. 'सुविज्ञे' ।

णुरेष धर्मः । अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा  
मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

देवैरप्यत्रैतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वं न हि  
सुज्ञेयं सुष्ठु ज्ञेयं श्रुतमपि प्राकृतैर्जनैर्यत्राऽणुः सूक्ष्म एष आत्मारुषो  
धर्मोऽताऽन्यमसंदिग्धफलं वरं नाचिकेतो वृणीष्व मा मां मोपरोत्सीरुप-  
रोधं मा कार्षीरधमर्णमिवोत्तमर्णः । आनेसृज विमुञ्चैनं वरं मा मां  
प्रति ॥ २१ ॥

आ० टी०—॥ २१ ॥

गो० टी०—नन्वात्मास्तित्वे पृष्ठे तद्वक्तव्यं तत्कथमन्प्रदुच्यत इत्याशङ्क्याऽऽशय-  
माह—किमयमिति । एकान्ततो नियमेनार्थित्वेन विवेकादिकं संगृहीतम् । विवेका-  
दिशालिन एव ज्ञानयोग्येति परीक्षणार्थमुतरो ग्रन्थ इत्यर्थः । अपिशब्दं भिन्नक्रमेण  
योजयति—देवैरपीति । देवा अप्येताद्वषयकसंशयवन्त इत्यर्थः । नन्वप्रतिहतज्ञाना  
देवा इति प्रसिद्धेः कथं संशयस्तत्राऽऽह—पुरेति । सृष्टिकाले । अपिशब्दादन्येषां  
संशयः सुप्रसिद्ध इति गम्यते । तैः श्रुतमपि दुर्ज्ञेयमित्याह—नहीति । तत्र हेतु-  
माह—यत इति । ननु नाणुपरिमाणस्तत्कथमणुरात्माऽत आह—सूक्ष्म इति ।  
दुर्विज्ञेय इत्यर्थः । पूर्वं सुविज्ञेयमिति वस्तुशब्देन निर्देश इहाऽऽत्मशब्देनेति पुंलि-  
ङ्गनिर्देशः । अत इति । आन्मज्ञानादित्यर्थः । असंदिग्धफलं पशुपत्रादि । उपरोधं  
निर्वन्दम् । तत्र दृष्टान्तमह—अधमर्णमिवेति । उत्तमर्णो धर्मा ॥ । अधमर्णः  
प्रतिग्रहीता ॥ २१ ॥

एवमुक्तो नचिकेता आह—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल तं च मृतो यन्न  
सुज्ञेयमात्थ । वक्ता चास्य त्वाहान्तो न लभो  
नाभ्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चिन् ॥ २२ ॥

देवैरत्राप्येतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं किलिति भवति देव नः श्रुतम् ।

१ घ. अ. सुविज्ञे° । २ ग. घ. च. °पृ विज्ञ° । ३ ख. ज. °ध्व मां । ४ ग. च. मा मो° ।  
५ झ. ज. ट. °स्तीस्तदुप° । ६ अ. ठ. °य इति° । ७ ख. ज. नचिकेता उवाच दे° । ८ क. झ.  
ट. सुविज्ञे° । ९ घ. भगव° । १० क. ख. ज. एवोपश्रु° । इ. एव ननु श्रु° । झ. ट. एव श्रु° ।

त्वं च मृत्यो यत्रस्मान्न सुज्ञेयमात्मतत्त्वमास्थ कथयस्यतः पण्डितैरप्यवेदनी-  
यत्वाद्गता चास्य धर्मस्य त्वादृशत्वत्तुल्योऽन्यः पण्डितश्च न लभ्योऽन्विष्य-  
माणोऽपि । अयं तु वरो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुरतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽ-  
स्त्येतस्य कश्चिदप्यनित्यफलत्वादन्यस्य सर्वस्यैवेत्यभिप्रायः ॥ २२ ॥

आ० टी०—॥ २२ ॥

गो० टी०— उपदेशनीयता इत्यन्तरं त्वमुपदिशाने शेषे द्रष्टव्यः । ननु पण्डि-  
तरूपदेशनीयत्वेऽन्ये पण्डिताः मन्त्रि तत्र गतान्यत्र आह—वर्केति । धर्मव्याऽत्मा-  
रूपस्य । न लभ्य इति कथमन्विष्यां त्वाऽऽह—अन्विष्यमाणोऽपीति । यद्यपि  
लोके यमादन्धे ब्रह्मविदः मन्त्रि तथाऽपि यमस्य मन्त्रि हतत्वादन्यत्र गमनमाशङ्क्यैवमु-  
क्तम् । एतस्य कश्चिदपि तुल्यो वरो नेत्यन्वयः । तात्पर्यार्थमाह—अनित्येति ॥ २२ ॥

एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः—

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्मशून्हस्तिहिरण्य-  
मश्वान् । भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव  
शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

शतायुषः शतं वर्षाण्ययूषि येषां ताञ्ज्जतीयुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व । किंच  
गवादिलक्षणान्यहून्मशून् । हस्तिहिरण्यं हस्ती च हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम् ।  
अश्वान् । किंच भूमेः पृथिव्या महद्विस्तीर्णमायतनमाश्रयं मण्डलं राज्यं  
वृणीष्व । किंच सर्वमप्येवदत्तव्यं स्वयं च लायुस्तथा अह—स्वयं च  
जीवं त्वं जीव शरदो शरीरसन्निहितकलायं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि  
जीवितुम् ॥ २३ ॥

आ० टी०—॥ २३ ॥

गो० टी०—दिना । सम्प्रवृत्तमाय विद्या देयत्यभिप्रायेण यमस्य पुनरुक्ति-  
रित्याह—स्वमित्यादिना । वृणीष्वे ह तान्विष्यन्तीति । ह-ती चेति जातेकर-

१ अ सुबिदे । २ अ. ज. ज. ट. 'हेह.देवता' । ३ घ. 'मःण' । ४ अ. । ५ ख. ग. घ.  
च. शतव' । ६ ख. 'तवययु' । ७ ड. ट. 'त्रानुतागो वृणी' । ८ घ. 'शून्,स्ती' । ९ क. ग.  
'लं म्प्राजं वृ' । च. श. अ. ट. लं । १० क. . च. ज. 'रिने चाऽऽह । १० ग. घ. च.  
'यं त्वं । ११ ह. 'व जी' । श. व. ट. ठ. 'व वा' ।



चनं हिरण्यमित्यपि । आयननशब्दो जनपदरक्षणे लक्षणया वर्तते इत्याह—मण्ड-  
लेति । चत्वारिंशद्योजनमिते देशे सम्राजः कर्म साम्राज्यं जनपदरक्षणमित्यर्थः । धार-  
णकर्म दर्शयति—शरीरमिति । इन्द्रियपाटवादिशून्यजीवनस्याप्रयोजनत्वादाह—समग्रेति ।  
समग्राः संपूर्णा अविकला इति यावत् । जीवितुं यावदिच्छसि तावद्धारयेत्यन्वयः ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजी-  
विकां च । महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां  
त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

एतत्तुल्यमेतेन यथोपदिष्टेन सदृशमन्यमपि यदि मन्यसे वरं तपपि  
वृणीष्व । किंच वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि चिरजीविकां च सह वित्तेन  
वृणीष्वेत्येतत् । किं बहुना महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्त्वमेधि भव ।  
किंचान्यत्कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां कामभाजं कामभा-  
गिनं कामार्हं करोमि सत्यसंकल्पो ह्यहं देवः ॥ २४ ॥

आ० टी०—एकैकं पुत्रधनादीनां वरत्वेनोपन्यस्य समुच्चितमिदानीमुपन्यस्यति—  
किंच वित्तं प्रभूतमिति । अस् भुवीतिधातोर्लोपमध्यमपुरुषैकवचनान्तस्य निपात  
एधीति ततो भवेति व्याख्यातम् ॥ २४ ॥

गो० टी०—सदृशमित्यधिकोपलक्षणार्थम् । प्रथमोऽपिशब्दः पुत्रादिसमुच्चयार्थं  
द्वितीये वरसमुच्चयार्थः । अथ पुत्रधनादीनामेकैकपरत्वेनोपन्यस्य समुच्चितमिदानीमुप-  
न्यस्यति— किंच वित्तं प्रभूतमिति । प्रभूतमधिकं हिरण्यं रत्नमादिर्यस्य तत्तथा ।  
चशब्दार्थमाह—सद्येति । क्रियापदानुपङ्गमाह—वृणीष्वेति । भवनाक्रियायाः कर्ता-  
रमध्याहरति—राजेति । अस् भुवीतिधातोर्लोपमध्यमैकवचनान्तस्यैधीने । दिव्यानां  
दिवि भव । दिव्या रम्भोर्वशिकल्पवृक्षकामधेन्वा इत्यस्तेषां मानुषाणां मनुष्यसंबन्धिनो  
मनुषाः स्वक्वन्दनवनिता इत्यस्तेषां च । कामार्हं कामयोग्यामित्यर्थः । नन्वकृतकर्मणः  
पुंस इष्टप्रदाने तव समर्थं कुत इत्याशङ्क्याऽऽह—सत्यसंकल्प इति । हि यस्मा-  
दहं देवोऽप्रतिहनज्ञानैश्वर्यतजोबलवांस्तस्मात्सत्यसंकल्पः । तस्मात्सामर्थ्यं यमस्ये-  
त्यर्थः ॥ २४ ॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाः  
श्छन्दतः प्रार्थयस्व । इमा रामाः सरथाः सतूर्या  
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः । आभिर्मत्प्रत्ताभिः

परिचारयस्व नचिकेतो मरणं माऽनुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

ये ये कामाः प्रार्थनीया दुर्लभाश्च मर्त्यलोके सर्वास्तान्कामांश्छन्दत  
इच्छांतः प्रार्थयस्व । किंचेमा दिव्या अप्सरसो रमयन्ति पुरुषानिति  
रामाः सह रथैर्वन्त इति सरथाः । सतूर्याः सवादित्रास्ताश्च न हि  
लम्भनीयाः प्रापणीया ईदृशा एवंविधा मनुष्यैर्मर्त्यैरस्मदादिप्रसादम-  
न्तरेण । आभिर्मत्प्रत्ताभिर्मया दत्ताभिः परिवारिणीभिः परिचारय-  
स्वाऽऽत्मानं पादपक्षालनादिशुश्रूषां कारयाऽऽत्मन इत्यर्थः । नचिकेतो  
मरणं मरणसंबद्धं प्रश्नं प्रेतोऽस्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं माऽनु-  
प्राक्षीमैवं प्रष्टुमर्हसि ॥ २५ ॥

आ० टी०— ॥ २५ ॥

गो० टी०— कामा इत्यस्य व्याख्या प्रार्थनीया इति । दिवि भगः पुरुषा अननु-  
कूला न भोग्या इत्याशङ्क्याऽऽह — रमयन्तीति । ननु पुरुषरमयितृत्वं भूलोकस्थाना-  
मपीत्याशङ्क्य भौमस्त्रीवैलक्षण्यमाह— सहेत्यादिना । तूर्य वाद्यविशयो वादत्रं हस्त-  
वद्यम् । ननु देवप्रसादादीदृशा अपि प्रापणीया इत्याह— अस्मदादीति । आभिः  
पूर्वोक्ताभिरात्मानं परिचारय वे य वयः । तात्पर्यार्थमाह— पादेति । मरणशब्दस्य  
तत्संबन्धिनि प्रने लक्षणामभिप्रेत्याऽऽह— मरणसंबद्धमिति । काकदन्तपरीक्षारूपं  
प्रश्नं माऽनुप्राक्षीमां वार्थीरित्यर्थः । मानुप्रयोगस्याध्माह— मैवमिति ॥ २५ ॥

एवं मलोभ्यमानोऽपि नाचिकेता मह हः वदक्षोभ्य आर्ह—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति

तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव

नृत्यगीते ॥ २६ ॥

श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेति संदिह्यमानं एव येषां भावो भवनं  
त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः । किंच मर्त्यस्य मनुष्यस्यान्नाक  
हे मृत्यो यदेतत्सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्त्यपक्षयन्त्यप्सरःपभृतयो

१ क० 'न्दतः प्रा० । ड. झ. ज. ट. 'न्दतश्छन्देन प्रा० । २ ग. घ. च. 'च्छातो मत्तः प्रा० ।  
३ घ. 'चारणी० । ४ क. घ. ड. 'त्. प्रेत्यास्ति । ५ झ. ज. ठ. 'वं मृत्युना प्र० । ६ ग. घ. ड. झ. ज.  
ट. 'ह । श्वोभावाः श्वो भवि० । ७ घ. च. 'न्ति चेति । ८ घ. च. 'नमेव । ९ च. झ. 'यो  
हि भो० ।

भोगा अनर्थायैवैते । धर्मवीर्यप्रज्ञातेजोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृन्वात् । यां  
चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्रापि शृणु । सर्वं यद्ब्रह्मणोऽपि  
जीवितमायुरल्पमेव किमुनाम्पदादिदीर्घजीविका । अतस्तवैव तिष्ठन्तु-  
वाहा रथादयस्तथा नृत्यगीते च ॥ २६ ॥

आ० टा० — ॥ २६ ॥

गो० टा० — सर्वतो विरक्तस्य शमादिमो ज्ञानांशकर इत्याख्यायिकया सूच-  
यन्नुत्तरमवतारयति — मृत्युनेति । एवं पुत्रादिना प्रकारेण त्वया यमनोपन्यस्तान-  
मुनाहतानां येषां भवनं संदिह्यम नमेव त इत्यन्वयः । अपि च न ते पुरुषोपकारिण  
इति निन्दाशमतिशयमाह—किंचेत्यादिना । अपक्षयं नाशं कुर्वन्नि । क इत्यपेक्षा-  
यामाह—अप्सरःप्रभृतय इति । हिशब्देन प्रत्यक्षनुमानाभ्यां विषयाणां तेजःक्षप-  
यितृत्वं प्रसिद्धमेव द्योत्यते । अथवा हि यस्मादप्सर प्रभृतयः क्षपर्यन्त तस्मादेतेऽ-  
नर्थायैवत्युत्तरणान्वयः । तत्र पूर्वोक्तं तेजःक्षपयितृत्वमुपलक्षणीकृत्य हेतुमाह—धर्मोते ।  
धर्म इष्टापूर्तादि वीर्यं सापथ्यं प्रज्ञा शास्त्र र्थावगाहनशक्तिभोज. प्रागल्भ्यं तन्मता  
वा दीर्घिर्शः कीर्तिः । ननु त्वयोक्तं सत्यं तथाऽपि निज्जीने विषयभागाः पुरु-  
षार्थ इत्याशङ्क्य तत्रापि दोषं शृण्वित्याह—यां चापीति । चकारापिकारौ विषय-  
दोषसमुच्चयार्थो । दित्सपि दत्तमच्छसि । श्रुतिस्मृतिशब्दपतितं पूरयित्वा क्रिया-  
पदमध्याहरति—शृण्वन्ति । सर्वशब्दप्रयोगाद्विरण्यगर्भार्थुर्गृह्यते । सर्वायुषां तत्रान्त-  
र्भावात् । एवकारद्योतितकैमुतिकन्यायमाह—किमुनेति । जीविका यत एवं जाताऽ-  
तस्तदधीनविषयभोगस्तुच्छ इत्याह—अत इति ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म  
चेत्त्वा । जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे  
वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

किंच न प्रभृतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । न हि लोके वित्तलाभः  
कस्यचित्तृप्तिकरो दृष्टः । यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्याल्लप्स्यामहे  
प्राप्स्यामह इत्येतद्वित्तमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत्त्वा त्वाम् । जीवितमपि  
तस्यैव जीविष्यामो यावर्धाम्ये पदे त्वमीशिष्यंभीष्यसे प्रभुः स्याः ।

१ घ. क. 'नाम् । आक्षयि° । २ ड. झ. ज. ट. ठ. °णु यत्सर्वं । ३ क. क. °विकामत° ।  
४ क. ख. ज. °था तव नृ° । ५ झ. ट. चेत्त्वाम् । ६ ग. घ. च. °हि वित्तलाभो लोके क° । ७ ग.  
घ. च. झ. °वित्तेऽपि । ८ घ. °द्याम्यप° । ९ क. ख. च. °प्यसि त्वमीशि° । घ. च. °प्यसि प्र° ।

कथं हि मर्त्यस्त्वया समेत्याल्पधनायुर्भवेत् । वरस्तु मे वरणीयः स एव  
यदात्मविज्ञानम् ॥ २७ ॥

आ० टी०—॥ २७ ॥

गो० टी०—दृढवैराग्यार्थं पूर्वोक्तं सर्वं निन्दनीयमित्याह—किंचेति । प्रभूतेनाधि-  
केन तर्पणीयः प्रीणनीयः । ननु वित्तं चेत्प्रीतिकरं भवत्येवेति चेन्नेत्याह—न हीति ।  
हिशब्देन तृप्तिकरत्वाभावो लोके प्रसिद्ध इति द्योत्यतेऽर्थानामर्जने दुःखमिति न्यायात् ।  
किंचातृप्तिकरे वित्ते तृष्णैव नास्ति । अथापि नामास्तु तथाऽपि वरं विनैव  
लप्स्यामह इत्याह—यदि नामेति । त्वां वयं दृष्टवन्तश्चाद्वित्तं लप्स्यामहे प्राप्स्यामह  
इत्यन्वयः । वित्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—जीवितेऽपीति । याम्ये यमस्य स्थानं  
याम्यं तस्मिन्निथत्वेति शेषः । ईशिष्यसीति परस्मैपदं छान्दसमित्याह—ईशिष्यस  
इति । प्रभुरिति । पुण्यपापवतां नियामकः स्याः । यावत्कालं प्रभुः स्यास्तावत्कालं  
त्वद्दर्शनेन जीविष्याम इत्यन्वयः । त्वद्दर्शनेनैव सर्वं लप्स्यामहे किमुत त्वया समेत्य  
त्वत्समीपं प्राप्य संभाषणादिकं कृत्वेति कैमुतिकन्यायं मनसि निधायाऽऽह—कथं  
हीति । हिशब्देन देवतासम गमादिनाऽभीप्सितप्राप्तिः श्रुतिस्मृतिलोकसिद्धेत्युच्यते ।  
अल्पेति धनायुषोर्विशेषणम् । किं तवेप्सितं तदाह—वर इति । किं तदाह—यदिति  
॥ २७ ॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्लधःस्थः  
प्रजानन् । अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे  
जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

यतश्चाजीर्यतां वयोहानिमैप्राप्नुवताममृतानां सकाशमुपेत्योपगम्याऽऽ-  
त्मन उत्कृष्टं प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यं तेभ्यः प्रजानन्नुपलभमानः स्वयं तु  
जीर्यन्मर्त्यो जरामरणवान्क्लधःस्थः कुः पृथिव्यधश्चान्तरिक्षादिलोकापे-  
क्षया तस्यां तिष्ठतीति क्लधःस्थः सन्कथमेवमविवेकिभिः प्रार्थनीयं पुत्र-  
वित्तहिरण्याद्यस्थिरं वृणीते । क्व तदास्थ इति वा पाठान्तरम् । अस्मिन्पक्षे  
चाक्षरयोजना तेषु पुत्रादिष्वास्थाऽऽस्थितिस्तात्पर्येण वर्तनं यस्य स  
तदास्थस्ततोऽधिकतरं पुरुषार्थं दुष्पापमपि प्रीतिपयिषुः क्व तदास्थो  
भवेन्न कश्चित्तदसारज्ञस्तदर्थी स्यादित्यर्थः । सर्वो ह्युपर्युपर्येव बुभूषति

१ झ. क्लधस्थः । ज. ट. क्लधस्तः । २ क. ख. ज. 'ममर्त्यानां । ३ क. ख. ग. 'लभ्यमा' ।  
४ घ. 'व्यधोऽन्त' । ५ झ. ज. ट. 'व्यधश्चासावन्त । ५ घ. 'थम' । ६ घ. 'ति पा' । ७ घ.  
'म् । तस्मि' । ८ घ. 'क्षेऽक्ष' । ९ झ. ज. ट. 'दास्थो जरामरणवास्त' । १० घ. 'तरपु' । ११  
घ. ङ. प्रापयिष्णुः ।

लोकस्तस्मान्न पुत्रवित्तादिलोभैः प्रलोभ्योऽहम् । किंचाप्सरःप्रमुखान्व-  
र्णरतिप्रमोदाननवस्थितरूपतयाऽभिधायन्निरूपयन्वथावदतिदीर्घे जी-  
विते को विवेकी रमेत ॥ २८ ॥

आ० टी०—किंचोत्कृष्टपुरुषार्थलाभे संभवत्यधमं कामयमानो मूर्ख एवाहं स्यां  
ततोऽपि मम स एव वर इत्याह—यतश्चाजीर्यतामित्यादिना ॥ २८ ॥

गो० टी०—किंचान्कृष्टपुरुषार्थलाभे संभवत्यधमं कामयमानो मूर्ख एव स्यात्ततो  
मम स एव वर इत्याह—यतश्चाजीर्यतामित्यादिना । सकाशं निकटं तेभ्यो वित्ता-  
दिभ्यो देवेभ्यो वा प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यमित्यन्वयः । ननु सर्वं किमिति प्रार्थयन्ते  
वित्तादिदोषं पश्यन्त इत्याशङ्क्याविवेकित्वात्तेषां विवेकिनो मम न प्रार्थनेत्याह—प्रजा-  
नन्निति । तेभ्यः प्राप्तव्यं प्रयोजनं प्रजानन्नित्यन्वयः । एवमविवेकिन्द्रुगीत इत्यन्वयः ।  
प्रजानन्प्रयोजनमुपलभमानः क्व तदास्थ इत्यन्वयं मनसि निधाय पाठान्तरं व्याचष्टे—  
अस्मिन्नाक्ष इति । नन्वाधिकतरपुरुषार्थानवगमे तेषु पुत्रादिष्वास्था स्यादित्याशङ्क्य-  
पेक्षितं पूरयति—तत इति । दुष्प्रापमपीतरजनैरिति शेषः । दुष्प्राप्यधिकतरं पुरु-  
षार्थं प्रापिष्यिषुः क्व तदास्थो भवेदित्यन्वयः । तात्पर्यार्थमाह—न कश्चिदिति । तत्र  
हेतुमाह—सर्वं इति । बुभूषति भवितुमिच्छति । इयता प्रबन्धेनोक्तस्य प्रयोजनमाह—  
तस्मादिति । यस्माद्दहं विवेकादिमांस्तस्मादित्यर्थः । वर्णो गीतीः रतिः क्रीडा प्रमोद-  
स्तज्जं सुखं निरूपयन्वथावदुत्पत्तिस्थितिनाशैर्विचारयन्नित्यन्वयः । अतिदीर्घे बहुसं-  
वत्सरपारिमिते जीविते जीवने प्राणधारणे ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्सांपराये महति  
ब्रूहि नस्तत् । योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं  
तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये प्रथमा वल्ली समाप्ता ॥ १ ॥

====

अतो विहायानित्यैः कामैः प्रलोभनं यन्मया प्रार्थितं यस्मिन्पेत इदं  
विचिकित्सनं विचिकित्सन्त्यस्ति नास्तीत्येवंप्रकारं हे मृत्यो सांपराये  
परलोकविषये महति महत्प्रयोजननिमित्त आत्मनो निर्णयविज्ञानं यत्त-  
द्ब्रूहि कथय नोऽस्मभ्यम् । किं बहुना योऽयं प्रकृत आत्मविषयो  
वरो गूढं गूढं दुर्विचेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्टोऽस्माद्गदन्वयविवेकिभिः

१ ग. घ. च. अ. ट. 'दिलोभैः । २ ड. झ. अ. ट. 'कित्सितं वि' । ३ क. ख. 'कृतात्म' ।  
४ इ. झ. अ. ट. गूढं । ५ ग. घ. ड. च. 'विष्टो वरा' । ६ ख. ग. घ. ड. च. 'स्तद्' ।

प्रार्थनीयमनित्यविषयं वरं नचिकेता न वृणीते मनसाऽपीति श्रुतेर्वचन-  
मिति ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-  
श्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृनौ काठकोपनिषद्भाष्ये  
प्रथमाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥

आ० टी०— ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविर-  
चिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने प्रथमा वल्ली समाप्ता ॥ १ ॥

गो० टी०— यतो जीवितेऽप्याशाऽपगताः तो मम प्रलाभनां विहाय प्रार्थितं प-  
(व)रं प्रदेहीत्याह— अत इति । परलोकाविषयेऽस्ति नास्तीत्येवं प्रकारं यन्मिन्विचि-  
कित्मनं विचिकित्मनि तस्याऽऽत्मनो निर्णयविज्ञानं यन्महत्प्रयोजननिमित्तं मोक्षार्थं  
तद्ब्रूहीत्यन्वयः । नचिकेतम विपरीकृत्यान्यस्याप्यधिकारनिर्णयार्थं संवासरितं श्रुते-  
र्वचनमित्याह— किं बहुनेति ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीमद्ब्रह्मगोपालेन्द्रयतीश्वरविरचिते काठ  
कोपनिषद्भाष्यविवरणे प्रथमाध्याये प्रथमा वल्ली समाप्ता ॥ १ ॥

परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्याऽऽह—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषः  
सिनीतः । तयोः श्रेय आदानस्य साधु भवति  
हीयतेऽर्थाय उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

अन्यत्पृथगेव श्रेयो निःश्रेयसं तथाऽन्यदुताप्येव प्रेयः प्रियतरमपि ते  
प्रेयःश्रेयसी उभे नानार्थे भिन्नप्रयोजने सती पुरुषमधिकृतं वर्णाश्रमा-  
दिविशिष्टं सिनीतो बध्नीतस्त्वाभ्यामात्मकर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः  
पुरुषः । श्रेयःप्रेयसोर्ह्यभ्युदयामृतत्वार्थी पुरुषः प्रवर्तते । अतः श्रेयः-  
प्रेयःप्रयोजनकर्तव्यतया ताभ्यां बद्ध इत्युच्यते सर्वः पुरुषः । ते यद्य-  
प्येकैकपुरुषार्थसंबन्धिनी विद्याविद्यारूपत्वाद्विरुद्धे । इत्यन्यतरापरि-

१ ग. ड. ज. चास्याव° । २ ख. ज. मृत्युरुवाच । अ° । ३ क. ड. ज. °दुत एवापि च  
प्रे° । घ. च. °दुतापि च प्रे° । ४ ड. झ. न. ट. °ते श्रेयःप्रेय° । ५ क. ख. ज. °स्ताभ्यां विद्या-  
विद्याभ्यामा° । ६ च. °पः । श्रेयःप्रेय° । ७ झ. °र्थां सन्पुरु° । ८ झ. °यः क° । ९ ग. झ. न.  
सर्वपु° । १० घ. झ. न. ट. °रुषसं° ।

त्यागेनैकेन पुरुषेण सहःनुष्ठातुमशक्यत्वात्तयोर्हित्वाऽविद्यारूपं प्रेयः श्रेय  
एव केवलमाददानस्योपादानं कुर्वतः साधु शोधनं शिवं भवति । यस्त्व-  
दूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्यतेऽस्मादर्थान्पुरुषार्थान्पारमार्थिका-प्रयोज-  
नान्नित्यात्प्रच्यवत इत्यर्थः । कोऽसौ य उ प्रेयो वृणीत उपादत्त  
इत्येतत् ॥ १ ॥

आ० टी०—अभ्युदयनिःश्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याविद्यावि पागप्रदर्शनेन च  
केवलविद्यार्थितया शिष्यं प्रथमं स्तौतीत्याह परीक्षेति । श्रेयःप्रेयसोन्तरपरित्या-  
गेनैवान्यतरोपादान हेतुमाह— ते यद्यपीति । ते यद्यप्येकैकपुरुषसंबन्धिनी तथाऽपि  
विरुद्धे ॥ १ ॥

गो० टी०—अभ्युदयनिःश्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन च केवल-  
विद्याप्रार्थितया शिष्यं प्रथमं स्तौतीत्याह—परीक्षेति । अदगम्य तस्मिन्निति शेषः ।  
पृथगेव प्रेयसः सकाशादित्यर्थः । निःश्रेयसं मोक्षस्तत्साधनत्वाज्ज्ञानमत्र निःश्रेयसम् ।  
तथेति । यथा श्रेयःपृथक्तयेत्यर्थः । नियतरमप्यभ्युदयसाधनं ज्यातिष्टोमा न्यदित्य-  
न्वयः । भिन्न प्रयोजने यथोक्ते भिन्नप्रयोजने । अधिकृतमित्यस्य विशेषणम्—वर्णा-  
श्रमादीति । आदिपदेन वयोवस्थादिपरिग्रहः । वर्णविशिष्टस्याधिकारे—“ ब्राह्मणो  
बृहस्पतिसत्वेन यजेत ” इत्यादि शास्त्रं प्रमाणम् । आश्रमविशिष्टस्याधिकारे—“ गृहस्थः  
सदृशीं भार्यामुपेयात् ” इत्यादि । वयोविशिष्टस्याधिकारे—“ ज तपुत्रः कृष्णके-  
शोऽग्नीन्दधीत ” इत्यादि । अवस्थाविशिष्टस्याधिकारे—“ अविचित्पितव्याधेरपां  
प्रवेशो वा ” इत्यादि प्रमाणम् । पिञ्ज् बन्धन इति धात्वर्थमादाय व्याचष्टे—सिनीत  
इति । ननु विद्याविद्योः कथं बन्धकत्वमित्यतः आह—ताभ्यामिति । सर्वः कर्त्तव्ये  
वर्णाश्रमादिविशिष्टोऽविकृतो विद्यायां साधनचतुष्टयसंलग्नताभ्यां प्रयुज्यते । तयोः  
प्रेरकत्वं वा कथमित्याशङ्क्याऽह—आत्मकर्त्तव्यतयेति । आत्मनि विद्याविद्ययोः  
कर्त्तव्यता वृत्तिसाध्यता तथा । विधितस्तद्विषयज्ञानेनेत्यर्थः । ननु वैधकर्त्तव्यताज्ञानद्वारा  
विद्याविद्याभ्यां पुरुषः प्रेर्यत इत्ययुक्तं विधेर्निशेषकर्त्तव्यतावैधे वात्सामान्यतः सिद्धे  
केनचित्कर्त्तव्यताज्ञाने तत्स्यात्तदेव नास्तीत्याशङ्क्याऽह—श्रेयःप्रेयसोरिति । अभ्यु-  
दयार्थी प्रेयसि कर्मण्यमृतत्वार्थी श्रेयसि मोक्षसाधने प्रवर्तते इति यथासंख्यमन्वयः ।  
एवं फलकामनया सामान्यतस्तत्साधनं कार्यमिति ज्ञानमभूदिति भावः । हिशब्दः  
प्रसिद्धिद्योतकः । यद्वोतरन्ननेति । हि यस्मात्सामान्येन कामनया कर्त्तव्यताज्ञानं

सिद्धमत इत्युपसंहारेणान्वयः । श्रेयसे प्रेयसे च कर्तव्ये विद्याविद्ये तयोर्भावः कर्तव्यता तयेत्यर्थः । ताभ्यां विद्याविद्याभ्याम् । ननु कर्मणो जन्मादिहेतुत्वेन बन्धकत्वेऽपि विद्यायास्तान्नवर्तकत्वात्कथं बन्धकत्वमिति चेत्कर्मणो जन्मादहेतुत्वेनालाभेन च विद्याया बन्धकत्वमिति भावः । तयोरन्यतरत्यागेनान्यतरपरिग्रहे हेतुमाह—ते यद्यपीति । तथाऽपि विरुद्धे । तत्र हेतुः—विद्येति । इति यस्मादर्थे । यस्माद्विद्याविद्ये विरुद्धे तस्मादन्यतरापरित्यागेनानुष्ठानुशक्यत्वादित्यन्वयः । नन्वेकेनैका परेणापरा कर्तुं शक्येत्यत आह—एकेनेति । ननु क्रमेणानुष्ठानुं शक्येत्यत आह—सहेति । हेतुमुपन्यस्याक्षराणि गृहीत्वा व्याचष्टे—तयोरिति । निर्धारणे पष्ठी । अविद्यारूपं कर्म प्रेयो हित्वेत्दन्वयः । अपेक्षिताध्याहारेण सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायेनाऽऽह—श्रेय एवेति । शिवमानन्दरूपम् । विद्योपादातुः श्रेय इत्युक्त्वा तद्विपरीतस्यानर्थप्राप्तिमाह—यस्त्विति । तुशब्दोऽविद्योपादातुर्वैलक्षण्यार्थः । अदूरदर्शात्यस्य व्याख्या विमूढ इत्यविवेकीत्यर्थः । ननु कर्मकर्तुः फलं स्यादिति शङ्कते—कस्मादिति । नन्वर्थान्न हीयत इत्युक्तमत आह—पारमार्थिकादिति । मोक्षादित्यर्थः । ननु मोक्षः स्वर्गाद्यन्यतम इत्यत आह—नित्यादिति । विमूढत्वमक्षरव्याख्यानेन दर्शयति—कोऽसाविति । उ एवोपादत्तेऽनुतिष्ठतीत्यर्थः । इत्येतदुपादत्त इत्युक्ते यावानर्थस्तावन्वृणीत इत्यर्थः ॥ १ ॥

यद्युभे अपि कर्तुं स्वायत्ते पुरुषेण किमर्थं प्रेय एवाऽऽदत्ते बाहुल्येन लोक इत्युच्यते—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति  
धीरः । श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो  
मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ २ ॥

सत्यं स्वायत्ते तथाऽपि साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धीनां दुर्विवेकरूपे सती व्यामिश्रिभूते इव मनुष्यमेतं पुरुषमा इतः प्राप्नुतः श्रेयश्च प्रेयश्च । अतो हंस इवाम्भसः पयस्तौ श्रेयःप्रेयःपदायौ संपरीत्य सम्यक्परिगम्यं मनसाऽऽलोक्य गुरुलायवं विविनक्ति पृथक्करोति धीरो धीमान् । विविच्यं च श्रेयो हि श्रेय एवाभिवृणीते प्रेयसोऽभ्यर्हितत्वात् । कोऽसौ धीरः । यस्तु मन्दोऽल्पबुद्धिः स विवे-

१ ग. घ. ङ. च. इर्वेते । २ झ. ज. ट. 'नुष्यं पु' । ३ झ. ज. ट. इतोऽश्रुतः प्रा° । ४ क. ख. घ. ज° 'म्य सम्यद्भूमन' । ५ ङ. झ. ज. 'लोक्य गु' । ६ क. ख. ज. 'च्य श्रे' । ७ क. ङ. 'ते श्रेय' । ८ झ. ज. ट. सदसद्विवे ।



कासामध्याद्योगक्षेमाद्योगक्षेमनिमित्तं शरीराद्युपचयं रक्षणनिमित्तमित्येत-  
त्प्रेयः पशुपुत्रादिलक्षणं वृणीते ॥ २ ॥

आ० टी०—॥ २ ॥

गो० टी०— नन्वाधिकृतेन पुरुषेणोभे अपि विद्याविद्ये कर्तुमन्वायत्ते यदि तर्हि  
किमर्थं पुरुषो बाहुर्येन श्रेय एव न गृह्णातीत्याशङ्क्य सत्यं द्वे अपि स्वाधीने तथाऽपि  
फलतः साधनतो मन्दमतीनामशक्ये मिलिते इव प्रेयःश्रेयसी पुरुषमधिकृतं प्राप्नुत  
इत्याह—यद्युभे इत्यादिना । एत इत्याङ्पूर्वकेण्गतावितिधातो रूपमित्याह—आ  
इत इति । तस्य व्याख्याऽश्रुत इति । तद्व्याचष्टे—प्राप्नुत इति । परस्परसमुच्चयार्थो  
चकारौ व्यामिश्रद्योतकौ । यतः श्रेयःप्रेयसोः स्वरूपतः फलतश्च विवेकाभावाल्लोकः प्रेय  
एवाऽऽदत्तेऽतो बुद्धिमान्हंसो यथाऽम्भसः सकाशात्क्षीरं विविच्य भुङ्क्ते तथा प्रेयसः  
सकाशाद्विविच्य श्रेयो ज्ञात्वा तदेव साधनैः संपादनीयमित्याह—अत इत्यादिना ।  
गुरुलाघवमिति । कर्मणोऽनुष्ठाने महानायसः फलमपि दुःखसंवलितं विद्याप्राप्तावन्वय-  
व्यतिरेकदृष्टानर्थनिवृत्तिरानन्दावाप्तिर्यत्नाभाव इति विविनक्ति विवेचयते गुरुलाघवमि-  
त्यर्थः । नियुक्तं दर्शयति—धीर इति । संस्कृतमतिरिति यावत् । गुरुलाघवविचारस्य  
फलमाह—श्रेय इति । हिरेवार्थः । छन्दसि प्रादयो व्यवहिताश्चेत्याशयेनाऽऽह—  
अभिवृणीत इति । तत्र हेतुमाह—प्रेयस इति । कर्तृपदं साकाङ्क्षमाह—कोऽसा-  
विति । यत्पदाध्याहारेण प्रेय इति व्याचष्टे—यस्त्विति । तुशब्दो बुद्धिमद्वैलक्षण्यार्थः ।  
अल्पबुद्धिरल्पाऽसंस्कृता बुद्धिर्यस्य सः । प्रेय एव वृणीत इत्यत्र हेतुमाह—विवेकेति ।  
योगस्य प्राप्तस्य क्षेमो रक्षणं तन्निमित्तं तदाह—शरीरेत्यादिना । शरीरेत्यादिशब्दे-  
नेन्द्रियादिपरिग्रहः । उपचयो वृद्धिः । तल्लक्षणनिमित्तं तस्वरूपानिमित्तम् । प्रेयःशब्दा-  
र्थमाह—पश्विति । अत्र श्रेयःशब्दः फलपरः ॥ २ ॥

स त्वं प्रियान्प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिके-  
तोऽत्यस्त्राक्षीः । नैतां सृङ्गां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां  
मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

स त्वं पुनः पुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान्पुत्रादीन्प्रियरूपांश्चाप्सरः-  
प्रभृतिलक्षणान्कामानभिध्यायंश्चिन्तयंस्तेषामनित्यत्वासारत्वादिदोषान्हे  
नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीरतिसृष्टवान्परित्यक्तवानस्यहो बुद्धिमत्ता तव नैतामवा-

सवानसि सृङ्गां सृतिं कुत्सितां मूढजनप्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्रायाम् ।  
यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवोऽनेके मूढा मनुष्याः ॥ ३ ॥

आ० टी०—॥ ३ ॥

गो० टी०—पुत्रादीनां गौणान्मत्वात्प्रियत्वम् । प्रियरूपान्प्रियं रूप्यते जन्यते  
यैस्तेऽप्सरःप्रभृतिलक्षणास्तदादिस्वरूपान् । चिन्तयन्नित्यपेक्षितं पूरयति—तेषामिति ।  
धृतयमोक्तेस्तात्पर्यं दर्शयति—अहो इति । अनेन शिष्यस्तुतिः कृता । मूढजनेषु प्रवृत्ता  
मूढजनप्रवृत्ता तां धनप्रायां धनप्रचुरामित्यर्थः । सृतौ मार्गे । बहुशब्दस्य त्रित्वे न पर्य-  
वसानमित्याह—अनेक इति ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति  
ज्ञाता । विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा  
कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीत  
इत्युक्तं तत्कस्माद्यतो दूरं दूरेण महताऽन्तरेणैते विपरीते अन्योन्यव्या-  
वृत्तरूपे विवेकाविवेकात्मकत्वात्तमःप्रकाशाविव । विषूची विषूच्यौ नाना-  
गती भिन्नफले संसारमोक्षहेतुत्वेनेत्येतत् । के ते इत्युच्यते—या चावि-  
द्या प्रेयोविषया विद्येति च श्रेयोविषया ज्ञाता निर्ज्ञाताऽवगता पण्डितै-  
स्तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वामहं मन्ये । कस्माद्यस्मा-  
दविद्वद्बुद्धिमलोभिनः कामा अप्सरःप्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां नालो-  
लुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गादात्मोपभोगाभिवाञ्छासंपाद-  
नेन । अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्व इत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥

आ० टी०—॥ ४ ॥

गो० टी०—पौनरुक्त्यमाशङ्क्य दूरमेते इति वाक्यस्य व्यावर्त्यां शङ्कामाह—  
तयोरिति । विशेषो न दृश्यत इति भावः । परिहारमवतारयति—यत्त इति । दूर-  
मित्यस्य व्याख्या—दूरेणेत्यादि । अन्तरेण भेदेन । एते वक्ष्यमाणे । परस्परभिन्नत्वे  
हेतुमाह—विवेकेति । तत्र दृष्टान्तः—तम इति । सुल्लोपश्छान्दस इत्याह—विषूच्या-  
विति । भिन्नफलत्वं व्याचष्टे—संसारेति । संसारहेतुरविद्या मोक्षहेतुर्विद्येत्या-  
काङ्क्षापूर्वकं व्याचष्टे—के ते इति । या कर्मकाण्डे प्रसिद्धा प्रेयोविषया । इति-

शब्दो वेदान्तप्रसिद्धार्थः । परस्परसमुच्चयार्थश्चकारः । श्रेयो मोक्षो विषयः साध्यं यस्याः सा तथा । प्रसिद्धत्वात्कर्तृपदमाह—पण्डितेरिति । तत्र विद्याविद्ययोर्मध्ये किमतोऽन्यं नचिकेतसं जानाति नेत्याह—त्वामिति । नचिकेतसो विद्यायोग्यतायामाकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यं हेतुपरत्वेन व्याचष्टे—कस्मादित्यादि । अविद्वद्बुद्धि-प्रलोभिनोऽविवेकबुद्धिवशीकरणसमर्थाः । काम्यन्त इति कामाः । श्रेयोमार्गाज्ज्ञानमार्गात् विच्छेदं कृतवन्तो विच्छिन्नसंबन्धं न कृतवन्तः । संबन्धविच्छेदे हेतुमाह—आत्मेति । आत्मनाऽप्सरःप्रभृतिकामेन जनितो यो (?) (य उप)भोगः सुखं तस्य वाञ्छेच्छा तस्या उत्पादनद्वारा न विच्छेदं कृतवन्त इत्यन्वयः । तात्पर्यमाह—अत इति । यतस्तैर्न वशं नीतोऽत इत्यर्थः । भाजनं पात्रं योग्यामित्यर्थः ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं-  
मन्यमानाः । दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धे-  
नैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥ ५ ॥

ये तु संसारभाजना अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्त-  
माना वेष्टयमानाः पुत्रपशवादितृष्णापाशघ्नैः स्वयं स्वयं धीराः प्रज्ञावन्तः  
पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानास्ते दन्द्रम्यमाणा अत्यर्थं कुटिला-  
मनेकरूपां गतिं गच्छन्तो जरामरणरोगादिदुःखैः परियन्ति परिग-  
च्छन्ति मूढा अविवेकिनोऽन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीय ना विषये पथि  
यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमुच्छन्ति तद्वत् ॥ ५ ॥

आ० टी०—॥ ५ ॥

गो० टी०—विद्यामिनिवेशायानिद्याधिकारिणो दर्शयति—ये त्वित्यादिना ।  
संसारभाजनाः संसारयोग्याः । अन्तरं कार्यकरणसंघातसारभूतो मध्यमो देशस्तत्र वर्त-  
मानास्तादात्म्यामिमानवन्तः । वेष्टयमाना बध्यमानाः । कैरित्याकाङ्क्षायामाह—पुत्रेति ।  
पुत्रादितृष्णा एव पाशशतानि तौरित्यर्थः । अत एव स्वयं धीराः प्रज्ञावन्तो वयमेव  
लौकिके प्रज्ञाशालिनः शास्त्रीयप्रज्ञाशालिन इति मन्यमाना इत्यर्थः । कार्यकारणा-  
द्यमिमानशालिनां गतिमाह—त इति । यद्दन्द्रम गताविनिधात्वर्थमादाय दन्द्रम्यमाणा  
इति पदं व्याचष्टे—कुटिलामित्यादिना । अनेकरूपामुत्तरावणादिरूपां गतिं मार्ग-  
मिच्छन्तः प्रार्थयन्तः । जराशब्दो दुःखहेत्ववस्थोपलक्षणार्थः । रोगो घातुवैषम्यम् ।

१ क. ज. 'मानाः प' । २ छ. पर्यन्ति । ३ क. छ. छ. 'भाजो ज' । ग. छ. च. 'भाजि-  
नोऽवि' । घ. 'भाजोऽवि' । ४ क. ग. घ. च. 'यं धी' । झ. 'यं च धी' । ५ झ. छ. द.  
'स्तेऽतो द' । ६ अ. गतिमिच्छ' । ७ क. अ. 'न्धेनेव' । ८ छ. 'व नी' । ९ क. 'नेषेव' ।

आदिशब्देन मनःपीडादिपरिग्रहः । तैर्जनितैर्दुःखैः परिगच्छन्ति परितः स्वर्गादिषु  
भ्रमन्तीत्यर्थः । अविवेकिनः संसारावध्यदर्शिनः । तत्र दृष्टान्तमाह—अन्धेनैवेति ।  
नयनस्थानमाह—विषय इति । कण्टकपाषाणादिगर्तादिसहित इत्यर्थः । यथाऽन्धा  
इति श्रुतिपदं व्याचष्टे—बहव इति । महान्तमनर्थं कण्टकतोदनपङ्कुत्वदेशावेशीर्णत्वा-  
दिरूपमृच्छन्ति प्राप्नुवन्ति यथा तद्वद्भ्रमन्त्यविवेकिन इत्यन्वयः ॥ ५ ॥

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमो-  
हेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी  
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

अत एव मूढत्वात् सांपरायः प्रतिभाति । संपरेयत इति संपरायः  
परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः । सांपरायः स च  
बालमविवेकिनं प्रति न प्रतिभाति न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येतत् ।  
प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं पुत्रपश्वादिप्रयोजनेष्वासक्तमनसं तथा वित्त-  
मोहेन वित्तनिमित्तेनाविवेकेनःमूढं तमसाऽऽच्छन्नं संस्तमयमेव लोको  
बोऽयं दृश्यमानः स्वयम्पानादिविशिष्टो नास्ति परोऽदृष्टो लोक इत्येवं  
मननशीलो मानी पुनः पुनर्जनित्वा वैशं मदर्धीनतामापद्यते मे मृत्यो-  
र्मम जननमरणादिलक्षणदुःखप्रबन्धारूढ एव भवतीत्यर्थः । प्रायेण शेष-  
विध एव लोकः ॥ ६ ॥

आ० टी०—सम्यक्पराकाले देहपातादूर्ध्वमेवेयते गम्यत इति शेषः ॥ ६ ॥

गो० टी०—पूर्वक्तार्थं हेतुत्वेनाऽऽदायोत्तरं व्याचष्टे—अत एवेति । अतःशब्दा-  
र्थमाह—मूढत्वादिति । परे काले देहपतनादूर्ध्वं सम्यगीयते गम्यत इति संपरायः ।  
अथवा सम्यक्पर इत्युपलक्षणम् । परापरब्रह्मप्राप्तिकाले प्रारब्धविगमानन्तरमित्यर्थः ।  
तत्प्राप्तिप्रयोजनः परापरब्रह्मप्राप्तिः प्रयोजनं यस्य स तथा । साधनविशेषश्चोकारध्या-  
नादिः शास्त्रीयः प्रसिद्धो यः स बालं पुत्रपश्वादिष्वासक्तत्वादविवेकिनं प्रति नोपति-  
ष्ठते बालो नानुतिष्ठतीत्यर्थः । प्रमादं कुर्वन्तं व्याचष्टे—पुत्रेति । पुत्रादिसाध्यप्रयो-  
जनेषु न केवलमासक्तमनसं न भाति किंत्वन्यथाऽपीत्याह—तथेति । मूढमिति ।

१ घ. 'यः संपरायः । प्र' । २ झ. ट. 'पर ईयत इ' । ३ ख. 'रे सम्यक्परे काल ईयत  
'इ । ग. घ. 'रे सम्यक्परे लोक ईयत इ' । ४ झ. ञ. ट. स बा' । ५ क. ख. ज. न भा' ।  
६ क. ग. घ. ङ. च. छ. ज. 'नस्तया वि । ७ झ. ञ. सन्तं न त्वय' । ८ च. 'मानोऽन' ।  
९ ख. 'नः स्वम' । १० ङ. ञ. 'रोऽप्यद' । ११ घ. 'द्यो मनुष्याल्लोक । १२ क. वशम' ।  
१३ ख. घ. ञ. 'शं स म' ।

वित्तातिरिक्तपुरुषार्थमपश्यन्तं तदर्जनादौ व्यासक्तचित्तमित्यर्थः । अत एव तमसाऽऽ-  
च्छन्नमित्याह—तमसेति । अविवेकेनेत्यर्थः । तमसा सांपरायो न भातीत्यन्वयः ।  
ननु द्रव्यासक्ततयाऽयं लोको न भायात्परंतु मार्तात्याशङ्क्य कैमुतिकन्यायेनाऽऽह—  
न त्वयमेवेति । लोकं विशिनष्टि-रुषमेति । इतिशब्द उक्तपरामर्शो । मानीति ।  
वित्ततृष्णयाऽभिमानवानित्यर्थः । सकृदुत्पन्नस्य पुनःपुनर्थमवश्यताऽनुपपन्नेत्यत आह—  
जनित्वेति । प्रबन्धः प्रवाहः । ननु धर्मार्थकामेषु सर्व एव लोक आसक्तश्चेद्विधाधि-  
कारिणोऽभावादुपनिषदां व्यर्थतेत्याशङ्क्याऽऽह—प्रायेणेति । उत्सर्गतः कामाद्या-  
सक्त एव जन इत्यर्थः । हिशब्दः प्रसिद्धार्थकः ॥ ६ ॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः । शृण्वन्तोऽपि  
बहवो यं न विद्युः । आश्रयो वक्ता कुशलोऽस्य  
लब्धाऽऽश्रयो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

यस्तु श्रेयोर्थां सहस्रेषु कश्चिदेवाऽऽत्मविद्भवति त्वद्विधो यस्माच्छ्रव-  
णायापि श्रवणार्थं श्रोतुमपि यो न लभ्य आत्मा बहुभिरनेकैः शृण्व-  
न्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये यमात्मानं न विद्युर्न विदन्त्यभागिनोऽसंस्कृ-  
तात्मानो न विजानीयुः । किंचास्य वक्ताऽप्याश्रयोऽद्भुतवदेवानेकेषु  
कश्चिदेव भवति । तथा श्रुत्वाऽप्यस्याऽऽत्मनः कुशलो निपुण एवाने-  
केषु लब्धा कश्चिदेव भवति । यस्मादाश्रयो ज्ञाता कश्चिदेव कुशलानु-  
शिष्टः कुशलेन निपुणेनाऽऽचार्येणानुशिष्टः सन् ॥ ७ ॥

आ० टी०—॥ ७ ॥

गो० टी०—यस्त्वेकजन्मार्जितसुकृतप्रसादासादितशुद्धबुद्धिः कामादिविमुखो निर-  
तिशयपुरुषार्थं ब्रह्म प्रत्यक्त्वेन जानाति सहस्रेषु नचिकेतःसदृशः कश्चिदेव भवती-  
त्याह—यस्तिवति । तत्र हेतुपरमुत्तरमाह—यस्मादिति । ननु मेघसंदेशाद्यसन्नप्यर्थः  
श्रूयत इत्याशङ्क्याऽऽह—श्रवणार्थमिति । तस्य व्याख्या—श्रोतुमपीति । अनेकैः  
श्रोतुमपि यो न लभ्य इत्यन्वयः । अयमाशयः—श्रवणस्य दृष्टफलत्वान्निर्विषयस्य च  
साक्षात्कागजनकत्वाज्जनितस्यापि प्रतिभाप्रत्ययवद्भ्रान्तिवादात्माऽविषय एवैष्टव्य  
इति । केषांचिच्छ्रोतुं दुर्लभोऽन्येषां ज्ञातुं दुर्लभ इत्याह—शृण्वन्तोऽपीति । अन्य  
इति पूर्वोक्ताधिकारिभ्य इत्यर्थः । न विदन्तीत्येतद्धेतुपूर्वकं व्याचष्टे—अभागिन  
इति । तद्व्याचष्टे—असंस्कृतेति । नित्यनैमित्तिकैरसंस्कृत आत्माऽन्तःकरणं येषां  
ते तथोक्ताः । यस्माच्छ्रोतारश्च ज्ञातारश्च दुर्लभस्तस्मात्कश्चिदेवाधिकारी भवतीति

वर्षेणान्वयः । एवं श्रोतारं महीकृत्य वक्तारं मही करोति—किंचेति । न केवलं श्रोता दुर्लभो वक्ताऽपीत्यर्थः । अस्याऽऽत्मनः । आश्चर्यशब्दोऽद्भुतवार्त्ताति तत्सदृशे लक्षणेत्याह—अद्भुतवदेवेति । यथाऽनेकेषु पदार्थेषु कश्चिदेव पदार्थ आश्चर्यकर एव वक्ताऽपि कश्चिदेव भवतीत्यर्थः । वक्तृत्वदौर्लभ्यानन्तरं श्रोतृत्वनेकेषु लब्धाऽप्यात्मनः कुशल एव कश्चिदेव भवतीत्याह—तथेति । यथा वक्ता दुर्लभस्तथेत्यर्थः । कुशल एव युवत्पुत्रमवसमर्थ एव । तत्र हेतुमाह—यस्मादिति । निपुणेन साक्षात्कृन्ब्रह्मतत्त्वेनाऽऽचार्येणानुशिष्टो वेदान्तैः शिक्षितः सञ्ज्ञाता साक्षात्कारवान्कश्चिदेव भवति यस्मात्तस्मात्कश्चिदेवाऽऽत्मनो लब्धेत्यन्वयः ॥ ७ ॥

कस्मात्—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो\*बहुधा चिन्त्य-  
मानः । अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्द्य-  
तर्क्यर्मणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

नहि नरेण मनुष्येणावरेण प्रोक्तोऽवरेण हीनेन प्राकृतबुद्धिनेत्ये-  
तदुक्त एष आत्मा यं त्वं मां पृच्छसि । न हि सुष्ठु सम्यग्बिज्ञेयो  
विज्ञातुं शक्यो यस्माद्बहुधाऽस्ति नास्ति कर्ताऽकर्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्या-  
द्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः । कथं पुनः सुविज्ञेय इत्युच्यते—  
अनन्यप्रोक्तेऽनन्येनापृथग्दर्शिनाऽऽचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्त  
उक्त आत्मनि गतिरनेकधाऽस्तिनास्तीत्यादिलक्षणा चिन्ता गतिरत्रा-  
स्मिन्नात्मनि नास्ति न विद्यते सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्तमितत्वादात्मनः ।  
अथवा स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन्नात्मनि प्रोक्तेऽनन्यप्रोक्ते गतिरत्रान्याऽव-  
गतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्वेषाभावात् । ज्ञानस्य शेषा परां निष्ठा यदात्मै-  
कत्वविज्ञानम् । अतोऽवगन्तव्याभावात् गतिरत्रावशिष्यते । संसारग-  
तिर्वाऽत्र नास्त्यनन्य आत्मनि प्रोक्ते नान्तरीयकत्वात्तद्विज्ञानफलस्य  
मोक्षस्य । अथवा प्रोच्यमानब्रह्मात्मभूतेनाऽऽचार्येण प्रोक्त आत्मन्वैग-  
तिरनवबोधोऽपरिज्ञानमत्र नास्ति । भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्त-  
दस्यहमित्याचार्यस्येवेत्यर्थः । एवं सुविज्ञेय आत्माऽऽगमवताऽऽचार्ये-

\* 'बहुधा चिन्त्यमानः' इत्यस्य स्थाने अणुरेष धर्म इति वर्तते ट. पुस्तके ।

१ क. 'मनुप्र' । २ ख. क. च. ज. झ. ट. 'वरप्रो' । ३ घ. 'प्रोक्तो नरे' । ४ झ. झ. ट. 'धाऽस्ती' । ५ च. ङा. 'क्षणचि' । ६ क. 'एवप्र' । ७ घ. 'नन्येऽस्मि' । ८ घ. प्रोक्ते ग' । ९ क. ख. ज. 'प्रोक्तेऽत्र गतिरन्यस्याव' । १० झ. झ. ट. 'रा काष्ठा' । ११ घ. 'न्यतवग' । १२ क. ख. घ. क. च. ज. ठ. 'दनन्योऽह' । ट. 'दहमस्यह' ।

णानन्वयतया प्रोक्तः । इतरथा [ अ ]णीयानर्णुप्रमाणादपि संपद्यत  
आत्मा । अतर्क्यमतर्क्यः स्वर्भुङ्क्त्वाऽभ्यूहेन केवलेन तर्केण । तर्क्यमा-  
णेऽर्णुपरिमाणे केनचित्स्थापित आत्मनि ततो ह्यणुतरमन्योऽभ्यूहति  
ततोऽप्यन्योऽर्णुतममिति न हि कुतर्कस्य निष्ठा कचिद्विशते ॥ ८ ॥

आ० टी०—अणुत्वं परोक्षत्वम् ॥ ८ ॥

गो० टी०—ननु वाक्यार्थव्युत्पत्तिमताऽप्याचार्येणानुशिष्टोऽधिकारी स्वाधिकारसा-  
मर्थ्याज्ज्ञास्यति लब्धा च भविष्यतीत्याशङ्कते—कस्मादिति । श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठ-  
मिति श्रुत्यन्तरे व्युत्पत्तिव्यतिरेकेण ब्रह्मनिष्ठताया आचार्यविशेषणत्वेन श्रुतत्वात्तादृगा-  
चार्योक्त आत्मा ज्ञातुं लब्धुं च शक्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—न नरेणेत्यादिना ।  
मनुष्येण मनुष्यत्वाभिमानवताऽत एवावरेण । अवरपदार्थमाह—हीनेनेति । प्राकृ-  
तबुद्धिना प्रकृतित आगतेषु पश्चादिष्वभिमानरूपा बुद्धिर्यस्य स प्राकृतबुद्धिस्तेनेत्यर्थः ।  
यं पृच्छति येयमित्यादिनेति शेषः । तत्र हेतुमाह—यस्मादिति । शून्यवादिष्वपति-  
रिक्तवादिभिरस्तीति चिन्त्यमानस्तैर्नास्तीति चिन्त्यमानोऽस्तीति पक्षे सांख्यव्यति-  
रिक्तैः कर्ताऽशुद्ध इत्यकर्ता शुद्ध इति वेदान्तिभिश्च स एव ब्रह्माभिन्न इति चिन्त्य-  
मानो यस्मात्तस्माद्विपतिपतिमत्ता( ता ) ह्यपदिष्टोऽर्थो न लब्धुं शक्य इति भावः ।  
केनाऽऽचार्येणोपदिष्ट आत्मा ज्ञातव्य इति पृच्छति—कथमिति । प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभू-  
तेन जीवन्मुक्तेन शिष्यबुद्धिपरिपाकप्रेरणावता ह्युपदिष्ट आत्मा लब्धुं शक्य इत्याह—  
लक्ष्य इति । नान्योऽनन्यस्तेन । ब्रह्मणः सकाशादिति शेषः । विषयेण विषयी  
लक्ष्यत इत्याह—अपृथग्दर्शनेति । अभेददर्शनेत्यर्थः । तदेव विवृणोति—प्रति-  
पाद्योति । वेदान्तैः प्रतिपाद्यो ज्ञेयो योऽभिन्नात्मा तत्स्वरूपेणेत्यर्थः । आत्मन्युक्ते  
सतीत्यन्वयः । गतिशब्दस्य पूर्वोक्तविकल्पविषयचिन्तापरत्वमादाय व्याचष्टे—गति-  
रिति । सर्वे च ते विकल्पाश्च सर्वविकल्पास्तद्विषया गतय( ति )श्चिन्ता प्रत्यस्त-  
मिता लीना यस्मिस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । आचार्यपदाध्याहारेणार्थान्तरमाह—  
अथवेति । स्वात्मभूते ब्रह्मात्मभूतेऽनन्य इत्येवंरूपेणाऽऽत्मनि प्रोक्ते प्रकर्षेणोपदिष्टे  
सतीत्यन्वयः । अत्राऽऽत्मनि ब्रह्माहमस्मीत्यवगतेरन्येति शेषः । ज्ञेयस्यान्यस्या-  
भाषादिति । ब्रह्मात्मैक्याद्भिन्नस्याभावादित्यर्थः । आत्मैकत्वेन विज्ञप्तिरभिव्यक्ति-

१ क. ख. ज. प्रोक्त इत्यर्थः । इ० । २ ग. ङ. झ. ञ. ठ. 'णुतरोऽणुप्र' । ३ क. . 'कर्ममणु-  
प्रमाणो न त' । ख. ज. 'कर्ममणुप्रमाणादत' । ४ क. ख. ज. 'बुद्धयभ्यू' । ग. च. 'बुद्भ्यूहे' ।  
५ क. ख. च. 'न तर्क्य' । ६ क. ग. 'माणोऽणु' । ७ ङ. झ. ट. 'णुप्रमा' । ८ क. ख. ग.  
ङ. च. ज. झ. ट. ठ. ततोऽणु' । ९ ग. च. 'तोऽप्यणुतरमि' । १० ङ. 'तरमि' । ११ क. ख.  
घ. ङ. ज. ठ. हि त' । १२ ट. ठ. आत्मभूते ।

रात्मैकत्वविज्ञानम् । फलितमाह—अत इति । यतो ब्रह्मात्मैकत्वमेव ज्ञेयं तज्ज्ञानं गतिरत  
इत्यर्थः । \* गन्तव्याभावाद्गन्तव्यान्तराभावाद्यतो न प्राप्तव्यान्तरमतो गतिर्ज्ञानान्तरं  
नावशिष्यत इत्यर्थः । गतिरत्र नास्तीत्यंशस्यार्थान्तरमाह—संसारगतिर्वेति । अनन्य  
आत्मनि गुरुणा प्रोक्त आत्मनि संसारगतिः संसारप्रतिभासः सत्यत्वेन नास्ति कर्तृ-  
त्वादेः संसारस्याभास एव प्रत्यय इति भावः । ननु विज्ञानस्य न संसारनिवृत्तिर्मुख्यं  
फलं तत्कथं संसारावगतनिषेध इति । नेत्याह—नान्तरीयकत्वादिति । विज्ञान-  
फलस्य मोक्षस्याऽऽनन्दावाप्तेः संसारनिवृत्तिर्ना( ना )न्तरीयकत्वादित्यर्थः । अग-  
तिरिति परिच्छेदेनार्थान्तरमाह—अथवेति । प्रोच्यमानं यद्ब्रह्म तदात्ममूतेनाऽऽचा-  
र्येण शिष्यबुद्ध्या बिम्बेश्वरमूतेनोपादिष्ट आत्मनि शिष्यस्याधिकारिणोऽनवबोध आत्म-  
विषये नास्त्येव, बोधो भवत्येवेत्यर्थः । इदमुपलक्षणं प्रतिबद्धबोधस्यापि । बोधे  
प्रतिबन्धो न भवतीति भावः । श्रोतुर्बोधमभिनीय दर्शयति—तदस्म्यहमिति ।  
तत्प्रत्यगभिन्नमहमस्मीत्यर्थः । तदनन्योऽहमिति पाठेऽप्ययमेवार्थः । तत्रोपमानमाह—  
आचार्यस्येवेति । वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरवाक्यमवतारयति—एवमिति । अनन्य-  
तया स्थितेनाऽऽचार्येण प्रोक्त आत्मा सुविज्ञेय इति प्रथमव्याख्यानुवादः । न  
केवलमाचार्येणोपादिष्ट आत्माऽपि त्वागमेनार्थत्याह—आगमवतेति । अवगमवतेति  
पाठः सुगमः । द्वितीयव्याख्यान आचार्येणानन्यतयाऽनन्य इत्येवंरूपेण प्रोक्त आत्मा  
सुविज्ञेय इत्यनुवादः । तृतीये समः । चतुर्थ आचार्येणैव प्रोक्त आत्मा सुविज्ञेय  
इत्येवकाराध्याहारानुषादो व्याख्येयः । पृथग्दर्शिनो तूपादिष्ट आत्मा परोक्ष एवे-  
त्याह—इतरथेति । पृथग्दर्शिनोपादिष्ट आत्माऽणुः परोक्षः परोक्षोऽपि परोक्षोऽणी-  
यानणुप्रमाणादप्यल्पपरिमाणादप्यणीयान्संपद्यत इत्यर्थः । हिरण्यार्थः । अल्पपरिमा-  
णादप्यणुतरः संपद्यत आत्मेत्यत्र हेतुमाह—अतर्क्यमिति । अणीयानित्युपक्रमे  
पुंलिङ्गनिर्देशादतर्क्यमिति नपुंसकः पुंलिङ्गत्वेन विपरिणेत्य इत्याह—अतर्क्य इति ।  
तर्केण ज्ञेयस्तर्क्यो न तर्क्योऽतर्क्यः । ननु तर्कस्यानुमानत्वेन प्रमाणत्वाच्चतुर्विधस्त्व-  
बोधकत्वात्कथं तर्कागम्य आत्मेत्यत आह—स्वबुद्ध्याऽभ्युहेनेति । स्वाधीना  
बुद्धिः स्वबुद्धिर्न गुर्वाद्युपदेशेन संस्कृता तथाऽभ्युह आरोपस्तेन तर्केणेत्यर्थः । तथा  
सत्यनुमानस्य मन्तव्य इति श्रुत्या वेदान्तसहायत्वमुक्तं बाधितं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—  
केवलमिति । श्रुत्यसहायेनेत्यर्थः । तथा च श्रुत्यनुकूलतर्कस्य समूलत्वात्प्रामाण्येऽपि केव-  
लस्य नार्थनिश्चयायकतेति भावः, केवलेन तर्केणातर्क्य इत्यन्वयः । विपक्षे दण्डमाह—तर्क्य-  
माण इति । तर्क्यमाण आत्मनि केनचित्तार्किकेणाणुपरिमाणे स्थापित इत्यन्वयः । एकेना-

\* एतदनुरोधेन भाष्येऽपि गन्तव्याभावादिति पाठः स्यादित्यनुमीयते ।



णुत्वेन स्थापित आत्मन्यन्योऽपि तार्किकं मन्योऽन्यथाऽभ्युहतीत्याह—तत इति । ततः पूर्वस्मात्परिमाणादणुतां ततोऽपि परेक्षतामन्यस्तार्किक उहति । हि प्रसिद्धमेतत् । ततोऽपीति । पूर्ववत् ननु कश्चित्तार्किकाप्रणीः परिमाणस्य निष्ठां वेत्स्यतीति नेत्याह— न हीति । कुत्सिततर्कः कुतर्क उत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनस्तस्य निष्ठा कस्मिंश्चिद्विषये परिसमाप्तिः काचिदपि न विद्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय  
प्रेष्ठ । यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि तादृङ्गो भूया-  
न्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

अतोऽनन्यप्रोक्त आत्मन्युत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्याऽऽत्ममतिर्नैषा तर्केण स्वबुद्धयभ्युहमात्रेणाऽऽपनेया न प्रापणीयेत्यर्थः । नापनेतव्या वा न हातव्या । तार्किको ह्यनागमज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किंचिदेष कथयति । अत एव च येयमागमभूता मतिरन्येनैषाऽऽगमाभिज्ञेनाऽऽचार्येणैव तार्किकात्प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति । हे प्रेष्ठ प्रियतम । का पुनः सा तर्कागम्या मतिरित्युच्यते । यां त्वं मतिं महद्वदनेनाऽऽपः प्राप्तवानसि । सत्याऽवितथविषया धृतिर्यस्य तव स त्वं सत्यधृतिर्बतासीत्यनुकम्पयन्नाह मृत्युर्नचिकेतसं वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये । त्वाहवत्त्वत्तुल्यो नोऽस्मभ्यं भूयाद्भ्रवताद्भवत्वम्बः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा । कीदृग्याहवत्त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

आ० टी०—॥ ९ ॥

गा० टी०—फलितमाह— अत इति । यतस्तर्कानधीनाऽत इत्यर्थः । अनन्येनापृथगर्शना प्रोक्ता आत्मनि विषय आगमप्रतिपाद्या तरति शोकमात्मविदित्यागमेन फलत्वेन प्रतिपाद्या येयं मतिरेषा तर्केण न प्रापणीया न परिणेयेत्यर्थः । पुनर्नकारप्रहणमन्वयार्थम् । अर्थान्तरमाह—नापनेतव्येति । न हातव्या न बाधनीया । वाशब्दः पक्षान्तरद्योती । प्रथमपक्षे ह्यात्मविषया मतिर्न तर्केण जननीयेत्यर्थः । द्वितीये कुतर्कादिनाऽऽगमजानमतिर्न बाधनीयेत्यर्थः । नन्वागमानुकूलतर्कस्यापि निषेधः स्यादित्या-

१ ट. 'का ह्यन्येन सु' । २ ख. ज. 'ण मतिः स्व' । ३ घ. झ. छ. ट. 'बुद्ध्याऽभ्यु' । ४ क. घ. ट. वा न हन्तव्या । झ. ज. झ. छ. ठ. वा नोपहन्तव्या । ५ ख. ग. कल्पय' । ६ क. ख. ज. 'प्रसूता' । ७ घ. 'रन्म्ये' । ८ ख. 'किं प्रोक्ता' । ९ ग. छ. घ. 'तिरुच्य' । १० ग. त. छ. ट. 'द्भवत्व' ।

शङ्क्य कुतर्कस्यैव निषेध इत्याह— तार्किक इति । यत्किंचिदेव कथयतीत्यन्वयः । यत्किंचित्प्रत्यगभिन्नस्य तदस्थत्वादेकम् । तदपि प्रमाणमूलमिति चेन्नेत्याह—स्वबुद्धिपरिकल्पितमिति । तत्र हं वः—अनागमज्ञ इति । हि यस्मादागमार्थानभिज्ञस्तार्किकस्तस्मात्स्वबुद्धिपरिकल्पितमेव यत्किंचित्कथयतीत्यन्वयः । अपृथग्दर्शनाऽऽचार्येणोपदिष्ट आत्मा ज्ञातुं शक्य इत्युक्तमर्थं श्रुतिर्निगमयतीत्याह—अत एवेति । यतस्तर्कजन्या न भवतीत्यत इत्यर्थः । कस्मादन्येनेत्यपेक्षायां पूरयति—तार्किकादिति । प्रोक्ता प्रकर्षणोपदिष्टेत्यर्थः । सुज्ञानाय साक्षात्काराय । प्रियतमेति संबोधनं नचिकेतसः । आकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यमवतारयति—का पुनरिति । मतेरुत्तरक्षणे प्राप्यमाणत्वात्प्राप्तवानसीति निर्देशः । वरप्रदानस्थाग्निविद्याप्रिसिपर्यन्तत्वाद्वाऽसीति निर्देशः । अविद्यः परमार्थ आत्मा विषयो यस्याः सा तथा । अनुकम्पयन्द्यां कुर्वन्नित्यर्थः । नचिकेतसमनुकम्पयन्वक्ष्यमाण[वि]ज्ञानस्तुतय आहेत्यन्वयः । हे नचिकेतो यादृक्त्वं प्रष्टा त्वत्तुल्योऽस्मभ्यं तादृक्पुत्रः शिष्यो वा भवत्वित्युत्तरवाक्यान्वयः ॥ ९ ॥

पुनरपि तुष्ट आह—

जानाम्यहं शेषधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते  
हि ध्रुवं तत् । ततो मया ना(न)चिकेतश्चित्तोऽग्निर-  
नित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

जानाम्यहं शेषधिर्निधिः कर्मफललक्षणो निधिरिव प्राथर्यत इति । असावनित्यैमानित्य इति जानामि । न हि यस्मादनित्यैरध्रुवैर्नित्यं ध्रुवं तत्प्राप्यते । परमात्माख्यः शेषधिः । यैस्त्वानित्यसुखात्मकः शेषधिः स एवानित्यैर्द्रव्यैः प्राप्यते । हि यतस्ततस्तस्मान्मया जानताऽपि नित्यमानित्यसाधनैर्न प्राप्यत इति ना(न)चिकेतश्चित्तोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः पश्वादिभिः स्वर्गसुखसाधनभूतोऽग्निर्निर्वर्तित इत्यर्थः । तेनाहमधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं प्राप्तवानस्मि ॥ १० ॥

आ० टी०—मया जानताऽपि बह्वायासं कर्म कृतं त्वं दीयमानमपि तत्फलं न गृह्णासि मत्तोऽधिकप्रज्ञोऽसीति संतोषास्तौतीत्याह—पुनरपि तुष्ट आहिति ॥ १० ॥

गो० टी०—मया जानताऽपि बह्वायासं कर्म कृतं तत्फलं दीयमानमपि न गृह्णासि

१ झ. ज. ट. 'फलं ल' । २ क. ख. ग. 'त्यमिति । ३ ख. ज. झ. ञ. ट. 'वैर्यन्नित्यं' । ४ ख. ज. 'माख्यः । ५ क. ख. ज. यस्तु नि' । ६ झ. ज. 'ति । नचि' । ७ क. 'र्थः । ततोऽह' ।

ततो मत्तोऽप्यधिकतरपज्ञोऽसांनि संतोषान्स्तौतीत्याह—पुनरपि तुष्ट आहृत्यादिना । शेषविशब्देन निधिशब्दपर्यायेण कथं कर्मफलमुच्यते भूष्यापितहिण्यार्थकत्वात्तन्निधि-  
शब्दस्येत्याशङ्क्य कामनाविषयत्वगुणयोगाच्छेषविशब्दः कर्मफले विद्यत इत्याह—  
निधिरिवेति । शेषविशब्दस्य पुंलिङ्गत्वादाह—अनित्यमनित्य इतीति । तन्न  
प्राप्यत इत्यन्वयः । ध्रुवशब्दार्थमाह—परमात्मेति । तर्ह्यानित्यसुखप्राप्तिः केनेत्यत  
आह—यस्तिवति । हे नचिकेतो नित्यमनित्यसाधनेन प्राप्यत इति जानताऽपि  
मयाऽग्निश्चित इत्यन्वयः । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—अनित्यैरिति । तेन चित्ते-  
नाग्निनाऽधिकारापन्नो धर्माधर्मफलयोः प्रदानेन जन्तूनां नियन्तृत्वमापन्नः । याम्बामिति ।  
यमयानि नियच्छतीति यमस्तस्येदं याम्यं तेनाधिष्ठितमिति यावत् । ननु कर्मफलस्य  
तद्यथेहेत्याश्रुत्याऽनित्यत्वश्रवणात्कथं नित्यत्वं तत्राऽऽह—आपेक्षिकमिति । किञ्चि-  
त्कालावस्थायीत्यर्थः ॥ १० ॥

कामस्याऽऽप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य  
पारम् । स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो  
नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीः ॥ ११ ॥

त्वं तु कामस्याऽऽप्तिं समाप्तिम्, अत्रैवैव सर्वे कामाः परिसमाप्ताः,  
जगतः साध्यात्माधिभूताविदेवादेः प्रतिष्ठामाश्रयं सर्वात्मकत्वात्,  
क्रतोः फलं हिरण्यगर्भं पदमनन्त्यमानन्त्यम् । अभयस्य च पारं परां  
निष्ठाम् । स्तोमं स्तुत्यं महदाणिमाद्यैश्वर्याद्यनेकगुणसंहतं स्तोमं च तन्म-  
हत्त्वं निरतिशयत्वात्स्तोममहत् । उरुगायं विस्तीर्णा गतिम् । प्रतिष्ठां  
स्थितिमात्मनोऽनुत्तमामपि दृष्ट्वा धृत्या धैर्येण धीरो धीर्मानसं नचिकेतोऽ-  
तोऽयस्त्राक्षीः परमेवाऽऽकाङ्क्षन्नतिसृष्टवानसि सर्वमेतत्संपारभोगजा-  
तम् । अहो बतानुत्तमगुणोऽसि ॥ ११ ॥

आ० टी०— ॥ ११ ॥

गो० टं०—आहिरण्यगर्भपदाद्विक्तस्य ब्रह्मविद्यविकार इत्येतद्दर्शयितुं प्रष्टारं  
स्तौति—त्वं त्विति । अत्रैवैव पदं व्याचष्टे—इहैवेति । हिरण्यगर्भपद इत्यर्थः ।

१ क छ. झ ञ. स्तांमं म° । २ क. ख. घ. ङ. च. ज. झ. ठ. अत्र हि स° । ३ ख. ज.  
झ. अ. ट. ठ. क्रतोरुपासनायाः फ° । ४ क. 'दमा' ५ ट. स्तुत्यमणि° । ६ अ. महत्त्वाणि° ।  
७ क. ख. च. ज. 'णसहितं । ८ घ. संगतं । ९ ङ. ट. 'स्वावुह' । १० ग. घ. झ. अ. 'स्तोमं  
म° । ११ घ. स्तीर्णग° । १२ ख. 'मानवि' । १३ ग. घ. ङ. च. 'मत्य' । १४ घ. 'सि त्वम् ।

हिरण्यगर्भपदस्याध्यात्माविभूतादिसहितसर्वजगदाश्रयत्वे हेतुमाह-सर्वात्मकत्वादिति ।  
 आनन्त्यपदापेक्षितक्रतुफलं हिरण्यगर्भपदमित्याह- क्रतोः फलमित्यादिना । अस्तु-  
 हिरण्यमर्भोपापना आनन्त्यापेक्षिकम् । एवमुत्तरपदेष्वपि द्रष्टव्यम् । भाष्ये प्रथम-  
 चकार आनन्त्याभयसमुच्चयार्थः । द्वितीयः स्तोममहस्वगुणममुच्चयार्थः । संहतमिति ।  
 विशिष्टमित्यर्थः । पदार्थमाभवाय तदनुवादेन हंतुं दर्शयति-स्तोमं धेत्यादिना ।  
 अनेककालावस्थायि हिरण्यगर्भपदं गम्यत इति व्युत्पत्त्या विस्तीर्णगतिरित्युच्यते । हे  
 नचिकेत इति संबोधनमत्यस्त्राक्षरित्यत्र द्रष्टव्यम् । किं त्यक्तवानसीत्यपेक्षायां प्रोक्त-  
 हिरण्यगर्भपर्यन्तसंसारभोगजातमित्याह-सर्वमेतदिति । उपक्रान्तश्रोतृपञ्चसामुप-  
 संहरति-अहो वनेति ॥ ११ ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।  
 अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ  
 जहाति ॥ १२ ॥

यं त्वं ज्ञातुमिच्छस्यस्मानं तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शोऽ-  
 तिसूक्ष्मत्वात् । गूढं गहनमनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्न-  
 मित्येतत् । गुहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यमानत्वात् ।  
 गह्वरेष्ठं गह्वरे विषमैऽनेकानर्थसंकटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम् । यत एवं गूढ-  
 मनुप्रविष्टो गुहाहितश्चातो गह्वरेष्ठः । अतो दुर्दर्शः । तं पुराणं पुरातनम-  
 ध्यात्मयोगाधिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानम-  
 ध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो हर्षशोकावात्मन  
 उत्कर्षापकर्षघोरभावाज्जहाति ॥ १२ ॥

आ० टी०--यश्च त्वया देहव्यतिरिक्त आत्मा पृष्टस्तस्यैव परमार्थस्वरूपज्ञानं संसा-  
 रनिवर्तकं परमानन्दप्राप्तिसाधनं धर्म्यं च नातपरं श्रेयःसाधनमस्तीति पृष्टस्य वस्तुनः  
 प्रशंसया च प्रष्टार प्रशंसति-यं त्वं ज्ञातुमिच्छसीत्यादिना ॥ १२ ॥

गो० टी०--यश्च त्वया देहव्यतिरिक्त आत्मा पृष्टस्तस्यैव परमार्थस्वरूपविज्ञानं  
 सनिदानसंसारनिवर्तकं परमानन्दप्राप्तिसाधनमतः परं श्रेयःसाधनं धर्मश्च नास्तीति पृष्टस्य  
 वस्तुनः प्रशंसया च प्रष्टारं प्रशंसते(ति)-यं त्वं ज्ञातुमिच्छसीत्यादिना । यमा-  
 त्मानं ज्ञातुमिच्छसि तमित्यन्वयः । यं च त्वमिति क्वचित्पठः । दुःखेनानि अत्य

१ क. ज. 'न च द' । २ क. ख. ड. झ. ट. 'दर्शमति' । ३ ग. ड. च. 'यविज्ञा' । ४  
 ख. झ. ट. 'कारेविज्ञा' । ५ ख. झ. अ. स्थितमाहितं निहितं त' । ६ क. ग. घ. झ. ञ. ट. ठ.  
 'भ्यत्वा' । ७ ख. मे 'स्थानेऽने' । ८ ख. ड. झ. ञ. ट. 'रो धीमान्हर्ष' ।

न्ताभ्यासेनेत्यर्थः । बहुक्त कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः इति । तत्र हेतुमह — अतिसूक्ष्मत्वा-  
दिति । कमिति । परमसूक्ष्माकाशात्तरपि कारणत्वादतिसूक्ष्ममतो बुद्धेशीमत्यर्थः । गूढ-  
मनुप्रविष्टमित्यस्य तात्पर्यार्थमाह — पाकृतेति । विषयाः शब्दादयः । नन्वनन्तायामवि-  
स्तारस्य न बुद्धौ स्थितत्वमिति (न्या) शङ्क्याऽऽह — तत्रेति । बुद्धावित्यर्थः । अन-  
र्था रागद्वेषादयस्तौ. संकटेऽत्यन्तायामजनके कार्यकारणसंघात इत्यर्थः । गूढमनुप्रवि-  
ष्टत्वं गुहाहितत्वं च गह्वरेष्ठत्वे हेतुस्तच्च दुर्दर्शत्वे हेतुरित्याह — यत एवमित्यादिना ।  
यतो गह्वरंष्ठोऽत इत्यर्थः । पुरातनं सनातनमित्यर्थ । अधिगमेनेति । प्राप्स्येत्यर्थः ।  
धीरोऽध्यात्मागमनं देवमात्मानं मत्वा हर्षशोकौ जहातीन्वयः । हर्षशोकोपलक्षित-  
संसारनिवृत्तौ हेतुमाह — आत्मन इति । स्वोत्कर्षप्रयुक्तं सुखादि परोत्कर्षप्रयुक्तं  
दुःखादि स्वापकर्षप्रयुक्तं दुःखादि परापकर्षप्रयुक्तं सुखादि तयोरभावस्तस्माद-  
पगच्छत इत्य(च्छतीत्य)र्थः । अत्र धीरो बुद्धिमानिति श्रवणमननसत्त्वमुच्यते ।  
अध्यात्मयोगशब्देन निदिध्यासनमुच्यते । मत्वोति साक्षात्कार उच्यते ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेत-  
माप्य । स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं  
सन्न नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

किंचैतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि तच्छ्रुत्वाऽऽचार्यप्रसादात्सम्यगात्म-  
भावेन परिगृह्योपादाय मर्त्यो मरणधर्मा धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्यो-  
द्यम्य पृथक्कृत्य शरीरादेरंशुं सूक्ष्ममेतमात्मानमाप्य प्राप्य स मर्त्यो  
विद्वान्मोदते मोदनीयं हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा । तदेतदेवंविधं ब्रह्मसद्य-  
भवनं नचिकेतसं त्वां प्रत्यपावृतद्वारं विवृतमभिमुखीभूतं मन्ये मोक्षार्ह-  
त्वा मन्य इत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

अ. ० टी. ० — ॥ १३ ॥

अ. ० टी. ० — आत्मतत्त्वज्ञानस्य सनिदानसंसारनिवर्तकत्वमाश्रयाऽऽनन्दावाप्तिसाध-  
नत्वमह — किंचेति । वक्ष्यामीति । न जायत इत्यारभ्येति द्रष्टव्यम् । स्वार्धनिश्च-  
रणं व्यावर्तयति — अर्थात्प्रसादादिति । अथवाऽऽचार्यप्रसादात्परिगृह्येति योजना ।  
आत्मभावेन परिगृह्येति मननेन ब्रह्मतत्त्वं श्रुतं प्रत्यगात्मत्वेन निश्चित्येत्यर्थः । प्रायेण  
मनुष्याधिकारत्वाच्छ्रुत्येति मर्त्यग्रहणम् । तत्त्वज्ञानम्योक्तधर्मत्वमाह — धर्मादिति ।

१. ज. 'ध्याम्येत' । २. ग. 'मि श्रुत्वा' । ३. क. ख. घ. ड. ज. ठ. 'यस्यकाशात्स' । ४. क.  
ख. ग. 'यं हि ह' । ५. च. ग. 'मं ब्रह्म भ' ।

कस्मात्पृथक्कृत्येत्यपेक्षायामाह—शरीरादेरिति । पृथक्करणं निदिध्यासनम् । प्राप्तिः साक्षात्कारः । मोदनीयमात्मानं लब्ध्वा स विद्वान्मोदत इत्यननाऽऽनन्दावाप्तिरुक्ता । एवं वस्तुप्रशंसां कृत्वा प्रष्टारं प्रशंसतीत्याह—तदेवामिन्वादिना । तदिति । तस्मादित्यर्थः । यस्माद्विद्वान्साक्षात्कारान्निरतिशयब्रह्म प्राप्नोति तस्मादित्यर्थः । एवंविधमिति । निरातिशयानन्दस्वरूपमित्यर्थः । ब्रह्मैव सद्य ब्रह्मसद्य भवनं गृहं प्राप्य स्थातव्य(न)मित्यर्थः । अभिमुखीभूतामिति । प्रसन्नमित्यर्थः । यमेवैष वृणुत इति श्रुतेः । पदार्थमुक्त्वा तात्पर्यमिहाह—मोक्षार्हामिति ॥ १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

यद्यहं योग्यः प्रसन्नश्चासि भगवन्मां प्रत्यन्यत्र धर्माच्छास्त्रीयाद्धर्मानुष्ठानात्तत्फलात्तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः । तथाऽन्यत्राधर्मात्तथाऽन्यत्रास्मात्कृताकृतात् कृतं कार्यमकृतं कारणमस्मादन्यत्र । किंचान्यत्र भूताच्चातिक्रान्तात्कालाद्भव्याच्च भविष्यतश्च तथा वर्तमानात् । कालत्रयेण यद्य परिच्छिद्यत इत्यर्थः । यदीदृशं वस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीतं पश्यमि जानामि तद्वद मह्यम् ॥ १४ ॥

आ० टी—यदि देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनः प्रथमं पृष्टस्य परमार्थस्वरूपज्ञानमेव श्रेयःसाधनं तर्हि तदेव ब्रूहीत्याह—यद्यहं योग्य इत्यादिना । अत एव वरदानव्यतिरेकेणापूर्वोऽयं प्रश्न इति नाऽऽशङ्कनीयं पूर्वपृष्टस्यैव याथातथ्यप्रश्नः पृष्टस्य वस्तुनो विशिषणान्तरज्ञानसाधनं वक्तु मित्यर्थः ॥ १४ ॥

गो० टी०—यद्यादौ पृष्टस्य देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनः पारमार्थिकस्वरूपज्ञानमेव श्रेयःसाधनं तर्हि तदेव ब्रूहीति नचिकेता आह—यद्यहं योग्य इत्यादिना । अत एव वरदानव्यतिरेकेणापूर्वोऽयं प्रश्न इति नाऽऽशङ्कनीयम् । येयं प्रेत इत्यादिना पृष्टस्यैव देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनो याथात्म्यप्रश्नोऽयं पृष्टस्य वस्तुन ओंकारोपासनादिरूपविशिषणान्तरं ज्ञानसाधनं वक्तु मित्यर्थः । मां प्रति यदि प्रसन्नश्चासि मह्यं तद्वदेत्यन्वयः । किं तदित्यपेक्षायामाह—अन्यत्रेत्यादिना । धर्मत्वेन प्रसिद्धचैत्यवन्दनादेरधर्मत्वरूपापनाय शास्त्रीयादिति विशिषणम् । ननु धर्मानुष्ठानादन्यदित्युक्ते तत्फलं तत्कारकं चाऽऽत्मा म्यादित्याशङ्क्य धर्मग्रहणस्योपलक्षणत्वान्न दोष इत्याह—तत्फलादित्यादिना । अधर्मादन्यदित्यत्राप्युपलक्षणं तुल्यम् । अन्यत्रेति । अन्यदित्यर्थः । कार्यकारणपरिच्छेदकात्कालादप्यन्यादित्याह—किंचेति । प्रथमश्चाराऽति-

क्रान्तवस्वन्यत्वसमुच्चयार्थः । भविष्यत्श्च कालादित्यनुवर्तते । द्वितीयश्चकारो भवि-  
ष्यत्कालपरिच्छिन्नवस्वन्यत्वसमुच्चयार्थो वर्तमानकालान्यत्वतत्परिच्छिन्नवस्वन्यत्वसमु-  
च्चयपलक्षणार्थश्च । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—कालेति । ईदृशं वदन्ति व्याख्ये-  
सर्वेति ॥ १४ ॥

इत्येवं पृष्टवते मृत्युरुवाच पृष्टं वस्तु विशेषणान्तरं च विवक्षन्—  
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्द-  
दन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्र-  
हेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

सर्वे यत्पदं पदनीयं गमनीयमविभागेनाऽऽमनन्ति प्रतिपादयन्ति  
तपांसि सर्वाणि च यद्ददन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं  
गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातु-  
मिच्छसि संग्रहेण संक्षेपतो ब्रवीमि, ओमित्येतत् । तदेतत्पदं यद्बुभु-  
त्सितं त्वया यदेतदोमित्योशब्दवाच्यमोशब्दप्रतीकं च ॥ १५ ॥

आ० टी०—सर्वे वेदा इति । वेदैकदेशा उपनिषदः । अनेनोपनिषदो ज्ञानसाध-  
नत्वेन साक्षाद्विनियुक्तास्तपांसि तेषां कर्माणि शुद्धिद्वारेणावगतिसाधनानि । मन्दाधिका-  
रिणो विचारासमर्थस्य क्रमेणावगतिसाधनं संक्षिप्याऽऽह—संग्रहेणेति । यस्य शब्द-  
स्योच्चारणे यत्स्फुरति तत्तस्य वाच्यं प्रनिद्धं समाह्वयित्तस्योकारांश्चारणे यद्विषया-  
नुपरक्तं संवेदनं स्फुरति तदोकारमवलम्ब्य तद्वाच्यं ब्रह्मास्मीति ध्यायेत्त्राप्यसमर्थ  
ओशब्द एव ब्रह्मदृष्टिं कुर्यादस्यर्थः ॥ १५ ॥

गो० टी०—उत्तरमवतारयति—एवमिति । विशेषणान्तरं चेति । ओंकारो-  
पासनमित्यर्थः । सर्वे वेदा इति तदेकदेशा उपनिषद उच्यन्ते तं त्वोपनिषदमित्यादि-  
श्रुत्या साक्षाज्ज्ञानसाधनत्वेन विनियुक्ताः । गमनीयमिति । प्राप्त्यमित्यर्थः । अवि-  
भागेनाविप्रतिषेधेनैककण्ठचेनेत्यर्थः । तपांसि कर्माणि । ननु कर्मणां शुद्धिद्वार-  
ेण ज्ञानसाधनत्वात्प्रमाणत्वाभावाद्वदन्तीत्येतदनुपपन्नमित्याशङ्क्य वदन्ति ति )रश्च  
लक्षणयेत्याह—यत्प्राप्त्यर्थानीति । \* यदिति । गुरुकुलवासलक्षणमिति ।

\* “यदिति” इत्यधिकं श्रुति- वैतदग्रे किञ्चिदिति भाति ।

१ क. झ. अ. ट. \*न्तरेण च । २ घ. \*त्पदमामनन्ति प\* । ३ ख. घ. ङ. ज. ट. \*नीयवि\* ।  
४ ड. \*मभिमानेनाऽऽम\* । ५ ग. घ. \*विगानेनाऽऽम\* । ६ क. ख. ज. \*मि त\* । ७ झ. अ. ठ  
\*र्था भवन्तीत्य\* । ८ ग. ख. \*र्यं चरन्ति गु\* । ९ ङ. ठ. \*विगानेना\* ।

नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यमित्यर्थः । अन्यदिति । इन्द्रविरोचनाख्यायिकाभिहितब्रह्मविद्याङ्गं  
ब्रह्मचर्यमित्यर्थः । मन्त्राधिकारिणोऽवगतिसाधनं संक्षिप्यऽऽह-संग्रहणेति । यस्य  
शब्दस्योच्चारणे यत्स्फुरति तत्तस्य वाच्यम् । समाहितचित्तस्योकारोच्चारणे यत्सा-  
क्षिसंवेदनं स्फुरति तदोकारमवलम्ब्योकारवाच्यं सत्त्वप्रधानमायावच्छिन्नमोकारोपाधिकं  
ब्रह्माहमस्मीति ध्यायेदित्यर्थः । यदि तत्राप्यसमर्थस्तर्हि प्रणवे ब्रह्मदृष्टिं कुर्यादित्याह-  
ओंशब्दप्रतीकं चेति ॥ १५ ॥

एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम् । एतद्धये-  
वाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

अत एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्मापरमेतद्धयेवाक्षरं परं च । तयोर्हि प्रतीकमे-  
तदक्षरम्, एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वोपास्य ब्रह्मेति यो यदिच्छति परमपरं  
वा तस्य तद्भवति । परं चेज्ज्ञातव्यं [ म ] परं चेत्प्राप्तव्यम् ॥ १६ ॥

आ० टी०-- ॥ १६ ॥

गो० टी०— तत्त्वविचारानधिकृतानामोकारोपासनां विधाय तत्फलं दर्शयन्मोकारं  
स्तौतीत्याह—अत इति । यत ओंकारो ब्रह्मवाचको ब्रह्मप्रतीकोऽत इत्यर्थः । एत-  
दक्षरमपरं ब्रह्मैवेत्यन्वयः । हिद्वयमत इत्यर्थे । एतदक्षरं परं ब्रह्मैव । चकारः पर-  
परात्मकत्वसमुच्चयार्थः । हिद्वयार्थं स्फुटयति-तयोर्हीति । हिशब्दो वाचकत्वसमुच्च-  
यार्थः । अथवा प्रतीकपदेनैव वाचकत्वमुपलक्ष्य हि वेदान्तेषु प्रणवस्य वाचकत्वप्रती-  
कत्वप्रसिद्धयर्थो व्याख्येयः । फलवचनं व्याचष्टे-एतदिति । हिशब्दो भवतीत्य-  
न्नन्वेति । एतदक्षरमुपास्यं परमपरं ब्रह्मेति ज्ञात्वोपास्य योऽधिकारी यत्परमपरं  
वेच्छति तद्भवति हीत्यर्थः । ननु परापरोपासनयोस्तत्प्राप्तिः फलमित्युक्तं चेत्सम्य-  
ग्ज्ञानं व्यर्थमित्याशङ्क्योपासनाद्वयस्य फलविभागमाह--परं चे[ दि ]ति । परं  
चेत्तदालम्बनत्वेनापास्यं स्थितमिति वा तदा ज्ञातव्यं सत्प्राप्तव्यम् । अपरं चेत्तदा  
प्राप्तव्यमेवेत्यध्याहारेण योज्यम् । अथवा तदालम्बनत्वेन स्थितं परं चेदिच्छति तदा  
तज्ज्ञातव्यं भवत्यपरं चेत्तदालम्बनत्वेन स्थितच्छति तदा तत्प्राप्तव्यमेव भवती-  
त्यन्वयः ॥ १६ ॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं  
ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

यत एवमत एतदालम्बनमेतद्ब्रह्ममत्प्राप्तव्यमालम्बनानां श्रेष्ठं प्रशस्यतमम् ।



एतदालम्बनं परमपरं च परापरब्रह्मविषयत्वात् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा  
ब्रह्मलोके महीयते । परस्मिन्ब्रह्मण्यपरस्मिन् ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो  
भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

आ० टी०—॥ १७ ॥

गो० टी०—अत इति । परापरप्राप्तिसाधनत्वादित्यर्थः । एवमुक्तप्रकारेण । एत-  
च्छ्लेषमि-यन्वयः । केषां मध्य इत्यपेक्षायामाह—×ब्रह्मेति । प्राप्त्यालम्बनानामिति  
गायत्र्यादीनां मध्य इत्यर्थः । परशब्दोऽपरस्याप्युपलक्षणार्थ इत्याह—अपरं चेति ।  
तत्र हेतुमाह—परापरेति । ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलाकस्तास्मिन्महीयते पूज्यो भवतीत्यर्थ-  
माह—परस्मिन्नित्यादिना ॥ १७ ॥

अन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्ठस्याऽऽत्मनोऽशेषविशेषरहितस्याऽऽल-  
म्बनत्वेन प्रतीकत्वेन चोकारो निर्दिष्टः । अपरस्य च ब्रह्मणो मन्दम-  
ध्यमप्रतिपत्तुःप्रति । अथेदानीं तस्योकारालम्बनस्याऽऽत्मनः साक्षात्स्व-  
रूपनिर्दिधारयिष्येदमुच्यते—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव  
कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न  
हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

न जायते नोत्पद्यते म्रियते वा न म्रियते चोत्पत्तिमतो वस्तुनोऽनि-  
त्यस्यानेकविक्रियास्तासामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहाऽऽत्मनि  
प्रतिषिध्यते प्रथमं सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति ।  
विपश्चिन्मेधावी, अविपरिप्लुतचैतन्यस्वभावात् । किंच नायमात्मा कुत-  
श्चित्कारणान्तराद्बभूव स्वस्माच्चाऽऽत्मनो न बभूव कश्चिदर्थन्तरभूतः ।  
अतोऽयमात्माऽजो नित्यः । शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः । यो ह्यशाश्वतः  
सोऽपक्षीयते । अयं तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुराऽपि नव एवेति ।  
यो ह्यवयवोपचयद्वारेणामिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुम्भादिस्त-  
द्विपरीतस्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः । यत एवमतो न हन्यते

× ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानामिति प्रतीकग्रहणं युक्तम् ।

१ क. ख. घ. च. 'त । अत ए । २ घ. 'न बाँका' । ३ ग. च. 'ते बोत्प' । ४ क. 'वी सर्व  
होऽप' । ५ ग. घ. च. 'भावत्वाद् । ६ क. ख. घ. ज. ठ. 'व । अ' । ग. 'व तस्मा' । ७ घ. म.  
द. 'यरिक्ताः । ८ क. 'तः सोऽप्यप' । ९ ग. घ. यथाऽङ्कुरादिस्त' ।

न हि स्थिते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे । तत्स्थोऽप्याकाशवदेव ॥ ८ ॥

आ० टी०— साधनहीनायोपदेशोऽनर्थक इति मत्वाच्चावचपव्गतिपाधनमुक्त्वा वक्तव्यस्वरूपं यत्पृष्ठं तदभिधानाद्योपक्रमत इत्याह— अन्यत्र धर्मादित्यादिनेति । यद्यत्त्मनोऽन्यद्ब्रह्म स्यात्तत्र जन्मादिप्राप्त्यभावादप्राप्तनिषेधः स्यादतो जन्मादिप्रतिषेधेन ब्रह्मोपदेशात्मात्मस्वरूपमेवोपदिशतीति गम्यते । मरणनिमित्ता च नास्तित्वाशङ्काऽऽत्मनो मरणाभावेऽस्तित्वविषयप्रश्नस्याप्येतदेव वचनं भवतीति द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

गो० टी०— साधनहीनायोपदेशोऽनर्थक इति मत्वा मन्दमध्यमाधिकारभेदेनेत्कृष्टापकृष्टसाधनमभिधायन्ते यत्स्वरूपं पृष्ठं तदभिधानाद्योपक्रमत इत्याह— अन्यत्र धर्मादित्यादिनेति । परमार्थतः सर्वधर्मविनिर्मुक्तस्योपाधिमन्तर्भाव्य मन्दमध्यमं प्रत्यालम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन वौ(चौ)कारो निर्दिष्ट इत्यर्थः । अपरस्य च ब्रह्मण आलम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन वौ(चौ)कारो निर्दिष्ट इत्यन्वयः । अथ साधननिरूपणानन्तरम् । इदानीमिति प्राप्तावसरत्वमुच्यते । तस्येति । उपामनार्थं सोपाधिकस्येत्यर्थः । ओंकारालम्बनस्योपाधिकस्याऽऽत्मन इत्यर्थः । साक्षादित्युपाधनन्तर्भावेनेत्यर्थः । निर्दिधारविषया निर्धारयितुमिच्छेदमुत्तरम् । ननु यद्यन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्ठस्योत्तरं तदस्तित्वप्रश्नस्य किमुत्तरं न वेदभेदेति चेद्ब्रह्मात्मनोरेकोत्तरासंभवादिनि चेन्नाऽऽत्मभेदासिद्धेर्यदि परमात्मनः सकाशाज्जीवो भिन्नस्तर्हि परमात्मप्रश्नस्य न जायत इत्युत्तरं न स्याज्जन्मादिसंबन्धस्य परमात्मन्यप्रसङ्गात्तयोरैक्ये जीवांशप्रसक्तिमादाय निषेध उपपद्यत इति तयोरेकमेवोत्तरमिति भावः । नन्वनेऽपि विकाराः सन्ति ते किमिति प्रथमं न निषिध्यन्त इति तत्राऽऽह— उत्पत्तिमत इत्यादिना । अनित्यस्य विनाशिन इत्यर्थः । विक्रियाः सन्तीति शेषः । समापद्यन्त इति पाठः कादाचित्कः । प्रथमं जन्मविमाश्लक्षणे विक्रिये न जायते म्रियते वेतीहाऽऽत्मनि प्रातर्निषेधेते इत्यन्वयः । प्रथमप्रतिषेधे प्रयोजनमाह—सर्वेति । क्रमेणेति द्रष्टव्यम् । मेधावीत्यनेन गुणगुणिसंबन्धे प्राप्ते प्रत्याह—अविपरिलुप्तेति । हेतुं पृच्छति—कुत इति । अथवा देवदत्ततो जातो नष्ट इति प्रतीतेः कथं तत्प्रतिषेध इति शङ्कते—कुत इति । न बभूवेत्यन्वयः । न बभूवेत्यत्र हेत्वन्तरानुपादानात्स्वामादिति लभ्यत इत्याह—त्वस्माच्चाऽऽत्मन इति । तत्र हेतुमाह—अर्थान्तरेति । देहादिभ्यो भिन्न इत्यर्थः । तथा च पूर्वोक्तप्रतीतेर्देहादिविषयकत्वात्त्वाऽऽत्मन उत्पत्तिविनाशाविति फलमाह—अजो नित्य इति । शाश्वतत्वं व्यतिरेकमुखणोपपद्यति—यो हीति । अत एवेति । शाश्वतत्वादित्यर्थः ।

पुत्राणांत्वमुपपादयति—यो हीति । अभिनिर्वर्त्यत इति । निष्पाद्यत इत्यर्थः । यत् इति । एते धर्मा शरीरस्य नाऽऽत्मनो यस्मादत इत्यर्थः । ननु शरीरसंस्क्रियमर्षव-  
च्छरीरे हन्यमान आत्माऽपि हन्यत इत्यत आह—तत्स्थोऽप्याकाशवादीति । यथाऽऽ-  
काशः शस्त्रघातादिभिर्न व्यथामश्नुतेऽसङ्गस्वभावत्वादेवमात्माः शरीरस्थोऽपि शस्त्रा-  
दिभिः शरीरे हन्यमाने न हिंस्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तु\* हतश्चेन्मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नाय\* हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

एवंभूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिर्हन्ता चेद्यदि मन्यते चिन्तयति  
हन्तुं हनिष्याम्येनमिति योऽप्यन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं  
हतोऽहमित्युभावपि तौ न विजानीतः स्वमात्मानं यतो ज्ञायं हन्ति,  
अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न हन्यत आकारवदविक्रियत्वादेव । अतोऽ-  
नात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्व श्रुतिमाप्ना-  
प्यान्न्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः ॥ १९ ॥

आ० टी०—यद्यविक्रिय एवाऽऽत्मा तर्हि धर्माधधिकार्यभावात्तदासिद्धौ संसारो-  
पलम्भ एव न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अनात्मज्ञविषय एवेति । यज्ञानात्प्रवृत्तेः  
स्यात्तज्ज्ञानात्सा कुतो भवेदिति न्यायाच्चाऽऽत्मज्ञस्य धर्मादि नोपपद्यतेऽत आत्मज्ञः  
सदा मुक्त एवेत्याह—न्यायाच्चेति । तदुक्तम्—

विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वता नान्ति कर्तृणा ।

अलेपनात्माश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा ॥ इति ॥ १९ ॥

गो० टी०—एवंभूतमिति । असङ्गस्वभावमित्यर्थः । शरीरमेव शरीरमात्रं तन्मि-  
ज्ञान्मत्वेन दृष्टिर्हस्य स तथोक्तः । इच्छामभिनीय दर्शयति—हनिष्याम्येनमितीति ।  
मननं विज्ञानं तस्याऽऽकारं दर्शयति—हनोऽहमितीति । स्वमात्मानं न विजानीतः  
शरीरमात्रदृष्टित्वादिति शेषः । तत्र हेतुमाह—यत् इति । न हन्ति हननरूपधर्मेण न  
संयुज्यते । तत्र हेतुमाह—अविक्रियत्वादिति । तथा धर्मविषयत्वमप्यात्मनो  
नेत्याह—तथा न हन्यत इति । पूर्वोक्तहेतुमाह—अविक्रियत्वादिति । यद्य-  
विक्रिय एवाऽऽत्मा तर्हि धर्माधधिकार्यभावात्तदासिद्धौ संसारेपलम्भ एव न स्यादित्या-  
शङ्क्याऽऽह—अतोऽनात्मज्ञविषय इति । देहादौ तादात्म्याद्यभिमानविषय-  
इत्यर्थः । इति तु कामयमान इत्यनात्मज्ञस्य संसारमनुवदति । अथाकामयमान इत्यात्म-

१ अ. ग. हन्तुमिच्छति हः । २ घ. 'ति वारयितुं योऽ' । ३ क. ग. च. 'शब्देऽस्य' । ४ घ.  
'श इवावि' । ५ ग. 'दतोऽ' । ५ अ. च. 'अ धर्माध' ।

ज्ञस्य तदभावं दर्शयति—श्रुतिप्रामाण्यादिति । स्मृतिरप्यथ वर्णाश्रमा इत्याद्या संसारमज्ञस्यानुवदति । स्थितप्रज्ञस्य का भाषेत्याद्या तदभावं दर्शयति । यदज्ञानात्प्रवृत्तिर्या तज्ज्ञानात्सा कुतो भवेदिति न्यायाच्चाऽऽत्मज्ञस्य धर्मादिर्नोपपद्यते स मुक्त एवेत्याह—  
न्यायाच्चेति । तदुक्तम्—

विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता ।

अष्टपदमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा ॥ इति ॥ १९ ॥

कथं पुनरात्मानं जानातीत्युच्यते—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्नि-

हितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको

धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

अणोः सूक्ष्मादणीयाञ्ज्यामाकादेरणुतरः । महतो \* महत्परिमाणा-  
महीयान्महत्तरः पृथिव्यादेः । अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेने-  
चाऽऽत्मना नित्येनाऽऽत्मवत्संभवति । तदात्मना विनिर्मुक्तमसत्संपद्यते ।  
तरमादसावेष्वाऽऽत्माऽणोरणीयान्महतो महीयान्सर्वनामरूपवस्तुपाधि-  
कत्वात् । स चाऽऽत्माऽस्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य  
गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः । तमात्मानं दर्शनध्व-  
णमननाविज्ञानछिद्गमक्रतुरकामो दृष्टादृष्टवाद्याविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः ।  
यदा चैवं तदा मन आदीर्निकरणानि धातवः शरीरस्य धारणात्मसी-  
दन्तीत्येषां धातूनां प्रसादादात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तत्वादिज्ञयरहितं  
पश्यत्यवमहमस्मीति साक्षाद्विजानाति । कर्तो वीतशोको भवति ॥ २० ॥

आ० टी०—अकामत्वादिसाधनान्तरविधानार्थमुत्तरवाक्यमवतारयति—कथं पुन-  
रिति । एकस्याणुत्वं महत्त्वं च विरुद्धं कथमनूद्यत इत्याशङ्क्याणुत्वाद्यध्यासाधिष्ठा-  
नत्वादणुत्वादिव्यवहारो न तत्त्वत इत्यविरोधमाह—अणु महद्वेति ॥ २० ॥

गो० टी०—कामवर्जितत्वादिसाधनविधानार्थमुत्तरवाक्यमवतारयति—कथं पुन-  
रिति । पृथिव्यादमहत्परिमाणादित्यन्वयः । नन्वेकस्याणुत्वं महत्त्वं च कथं  
विरुद्धमनूद्यत इत्याशङ्क्याणुत्वाद्यध्यासाधिष्ठानत्वादणुत्वादिव्यवहारो न तत्त्वत

\* व्यधिकरणबहुव्रीहिणा कथंचिन्नेयमेतत् ।

१ स. ट. 'कृष्णार्जुन' . २ क. ट. धातुः प्र' । ३ क. ट. 'वत्सत्संभ' । ४ क. 'मो दृष्ट' ।  
५ ग. 'दन्त्येषां' । ६ घ. 'न्तीति तेषां' । ७ क. ख. 'तं पश्यति वीतशोकोऽय' । घ. 'तं धातुप्र-  
प्रसादा न्महिमानमात्मनोऽय' । ८ क. ख. घ. ङ. ज. ट. 'तो विगत' ।

इत्याह—अणु महद्वेति । नित्येन तेनैवेत्यन्वयः । आत्मस्वरूपवत्सत्प्रत्ययविषय इत्यर्थः । यस्मात्तदात्मनैवाऽऽमवत्तद्विनिर्मोके न भवति तस्मादित्यर्थः । सर्वात्मकत्वे सर्वाधिष्ठानत्वं हेतुमाह—सर्वेति । वस्तुशब्देन कर्मोच्यते । तेषामुपाधित्वादाश्रयत्वादित्यर्थः । तस्य सर्वाधिष्ठानत्वेन सर्वरूपत्वं सहेतुकमाह—स चेति । हेतुमाह—गुहायामिति । आत्मभूतः । प्रत्ययत्वेन स्थित इत्यर्थः । प्रत्यग्रहदर्शनसाधनं विदधाति—तमित्यादिना । तं पश्यतीत्यन्वयः । ननु दर्शने कामराहित्यमात्रं न कारणमत आह—दर्शनेति । दर्शनोद्देशेन विहितं यच्छ्रवणं मननं विज्ञानं निदिध्यासनं लिङ्गं साधनं प्रतिबन्धकानिरासद्वारा यस्य स तथा तम् । दृष्टा ऐहिका अदृष्टा आमुष्मिका विषयास्तेभ्य उपरतबुद्धिरित्यर्थः । कामराहिन्यमिन्द्रियमसादे हेतुरित्याह—यदा चैवमिति । एवमुपरतबुद्धित्वम् । ननु धातुशब्दः कथमिन्द्रियवाची शिरा—(शुक्रा)दिवाचित्वादित्याशङ्क्य योगवृत्त्येत्याह—शरीरस्येति । धारणादिन्द्रियैरिति शेषः । कर्मनिमित्तौ वृद्धिक्षयौ शरीरादेर्नाऽऽत्मनोऽतस्तद्रहितम् । अक्रतुर्धातुप्रसादात्तमात्मनो महिमानं पश्यतीत्यन्वयः । दर्शनप्रकारमभिर्नाय दर्शयति—अयमहमस्मीति । दर्शनफलमाह—ततो वीतशोक इति ॥ २० ॥

अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः, यस्मात्—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।

कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

आसीनोऽवस्थितोऽचल एव सन्दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत एवमसावात्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवानतोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति । अस्पदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य सुविज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यादिविरुद्धानेकधर्मोपाधित्वाद्विरुद्धधर्मवत्त्वाद्विश्वरूप इव चिन्तामणिवदवभासते । अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति—कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति । करणानामुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्योपशमः शयानस्य भवति । यदा चैवं केवलसामान्यविज्ञानत्वात्सर्वतो यातीव यदा विशेषविज्ञानस्यः स्वेन रूपेण स्थित एव सन्मनआदिगतिषु तदुपाधिकत्वाददूरं व्रजतीव । स चेहैव वर्तते ॥ २१ ॥

१ क. 'कृतैः पु' । २ ट. 'न्यो वेत्तुम' । ३ ड. झ. ट. 'हृषोऽह' । ४ ग. ह. च. झ. ञ ट. 'स्य वि' । घ. 'स्य सवि' । ट. 'स्य कस्यचिद्विज्ञे' । ५ क. 'कविधि' । च 'कविधध' । ६ झ. ञ. ट. 'मत्वादि' । ७ क. 'ते । इति दु' । ८ ड. झ. ट. 'दुर्ज्ञेय' । ९ झ. ञ. 'व तदा । १० झ. 'षणा' । ११ घ. 'ज्ञानः स्वे' ।

आ० टी०—विरुद्धानेकधर्मवत्त्वाददुर्विज्ञेयश्चेदात्मा कथं तर्हि पाण्डितस्यापि सुज्ञेयः  
 स्वविद्याशङ्क्याऽऽह—स्थितिगतीति । विश्वरूपो मणिर्यथा नानारूपोऽवभासते  
 परं नानाविधोपाधिसंनिधानान्न स्वतो नानारूपः, चिन्तामणौ वा यद्यच्चिन्त्यते तत्त-  
 च्चिन्तोपाधिकमेवावभासते न तत्त्वतः, तथा स्थितिगतिनित्यानित्यादयो विरुद्धानेक-  
 धर्मा येषां तदुपाधिकत्वादात्माऽपि विरुद्धधर्मवानिवावभासत इति योजना इति । तस्य  
 सुविज्ञेयो भवति । उपाध्यविवेकदर्शिनस्तु दुर्विज्ञेय एवेत्यर्थः । स्वतो विरुद्धधर्मवत्त्वं  
 नभतीत्येतदेव श्रुतियोजनया दर्शयति—करणानामित्यादिना । एकदेशविज्ञा-  
 नस्येति । मनुष्योऽहं नालं पश्यामीत्यादिपरिच्छिन्नविज्ञानस्येत्यर्थः ॥ २१ ॥

गो० टी०—कामराहित्यमन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुरित्याह—अन्यथेति । मोक्ष-  
 कामिणां वारययि—प्राकृतेति । दुर्विज्ञेयत्वे विरुद्धधर्मवत्त्वेन प्रतिभासमानत्वं हेतुमाह—  
 यस्मादिति । अचल एव सन्निति । जगत्स्वप्नयोर्मनआदिष्वपारसाक्षित्वेन कूटस्थः  
 सन्निश्चय एवेत्यर्थः । दूरं व्रजतीति । मनआदिव्यापारेषु विषयदेशं गच्छत्सु तत्प्रति-  
 बिम्बरूपेण गच्छतीत्यर्थः । शयान इति । करणेषूपरतेषु विशेषविज्ञानरूपाभावाच्छ-  
 यानो यातीति । सर्वत इति । विज्ञप्तिसामान्यरूपेणावस्थानात्सर्वतो यातीत्युच्यते ।  
 एवमसाक्षिति । विरुद्धधर्मवानित्यर्थः । इतश्च विरुद्धधर्मवानित्याह—देव इति ।  
 अतो विरुद्धधर्मत्वादित्यर्थः । अतो ज्ञातुमशक्यत्वात्तं मदन्वयः को ज्ञातुमर्हतीत्यन्वयः ।  
 अ[न]धिकारिणो ज्ञातुमशक्य इति तात्पर्यार्थमाह—अस्मदादेरेवेति । सूक्ष्मबुद्धि-  
 र्वमन्वयव्यतिरेककुशलत्वं पाण्डित्यं श्रवणादिपरत्वम् । कस्यचिदिति । पुरुषधौरे-  
 यस्येत्यर्थः । मनुष्याणां सहस्रंष्विति स्मृतेः । नन्वनेकधर्मवत्त्वाददुर्विज्ञेयश्चेदात्मा कथं  
 पाण्डितस्यापि सुविज्ञेय इत्याशङ्क्याऽऽह—स्थितिगतीति । यथा विश्वरूपो मणिर्नाना-  
 रूपोऽवभासते तथा परोऽपि नानाविधोपाधिसंनिधानान्नानारूपो भासते न स्वतो नानारू-  
 पता । चिन्तामणिर्वा यद्यच्चिन्त्यते तत्तच्चिन्तोपाधिकमेवावभासते न तत्त्वतस्तथा स्थितिग-  
 तिनित्य नित्यादयो विरुद्धानेकधर्मा येषां तदुपाधिकत्वादात्माऽपि विरुद्धधर्मवानिवाभा-  
 सत इति योजना । तस्य सुविज्ञेयो भवतीत्यर्थः । वस्तुपाध्यविवेकदर्शी स तु न जानाती-  
 त्याह—अतो दुर्विज्ञेयत्वमिति । अत उपाध्यविवेकदर्शनादित्यर्थः । आत्मनो न स्वतो  
 विरुद्धधर्मत्वं किंतुपाधित इत्येतच्छ्रुतियोजनया दर्शयति—करणानामिति । एकदेश-  
 विज्ञानस्येति । मनुष्योऽहमिदं पश्यामीत्यादिपरिच्छिन्नविज्ञानस्येत्यर्थः । एव-  
 मिति । उपरतविशेषविज्ञानमित्यर्थः । तदेति शेषः । केवलेति । केवलं यत्सामान्यं  
 सर्वोपाध्यनुस्यूतस्वरूपं विज्ञान तत्स्वरूपत्वादात्मन इत्यर्थः । केवलं विशेषोपाधि-  
 मित्यर्थः । इवशब्दान्न वस्तुत इति भावः । यदेति । स्वेन रूपेण प्रत्यङ्मा-

त्रतया स्थित एव सन्निशेषविज्ञानस्थो यदा भवति तदेति पदद्वयमध्याहृत्य योजनविम् ।  
तदुपाधि[ क ]त्वान्मनआदिगत्युगाधित्वात् । दूरं व्रजतीव न वस्तुत इत्यर्थः । इव-  
शब्दार्थं स्फुटयति—स चेति । इहेति देहोक्तिः ॥ २१ ॥

तद्विज्ञानाच्च शोकात्यर्थं इत्यपि दर्शयति—

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं

विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

अशरीरं स्वेन रूपेणाऽऽकाशकल्प आत्मा तमशरीरं शरीरेषु देवपि-  
तृषनुष्यादिशरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितिरहितेष्वनित्येष्ववस्थितं नित्यमवि-  
कृतमित्येतत् । महान्तं महत्त्वस्याऽऽपेक्षिकत्वशङ्कायामाह - विभुं व्यापि-  
नमात्मानम् । आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्वत्त्वपदर्शनार्थम् । आत्मशब्दः प्रत्यगा-  
गात्मविषय एव मुख्यस्तमीदृशमात्मानं मत्वाऽयमहमिति धीरो धीमाश्च  
शोचति । न ह्येवंविधस्याऽऽत्मविदः शोकोपपत्तिः ॥ २२ ॥

आ० टी०—॥ २२ ॥

गो० टी०—उत्तरवाक्यं व्याचिरुयापुर्भूमिकाभारचयति—तद्विज्ञानादिति । आभि-  
मनिकसशरीरत्वं व्यावर्तयति—स्वेनेति । ननु शरीराणां स्थितिमत्त्वात्कथमनवस्थित-  
त्वमत आह—अनित्येष्वेति । संश्लेषं वारयति—नित्यमविकृतमिति । स्वत इति  
न क्रियासाध्यं किं स्वभाविकं प्रत्यग्ब्रह्मैक्यमिति दर्शयितुम् । आत्मशब्दः प्रत्यगा-  
त्मवाचको मुख्य इत्यर्थः । मत्वेति । अहमेव परं ब्रह्मेति साक्षात्कृत्येत्यर्थः । अन्व-  
यव्यतिरेकासिद्धं विज्ञानफलमाह—न ह्येवमिति ॥ २२ ॥

यद्यपि दुर्विज्ञानेऽयमात्मा तथाऽप्युपायन सुविज्ञेय एवेत्याह—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना

श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा

विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥ २३ ॥

नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया  
ग्रन्थार्थधारणशक्त्या । बहुना श्रुतेन केवलेन । केन तर्हि लभ्यं इत्यु-  
च्यते यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवाऽऽत्मना वरिषा

१ च. 'यमभिद' । २ क. इत्याभिद' । ग. घ. ङ. इति द' । ३ क. ख. ज. 'ष्वनित्येष्वव-  
स्थितिरहितेष्ववस्थितं । ४ घ. 'ष्वव' । ५ झ. ञ. ठ. 'नमत्राऽऽत्म' । ६ क. ग. 'रणाश' । ७ ग.  
घ. 'भ्यत इ' । ८ क. ख. ग. घ. ङ. ज. ट. 'व स्वमात्मा' ।

स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायते एवमित्येतत् । निष्कामस्याऽऽत्मानमेव प्रार्थ-  
यत आत्मनैवाऽऽत्मा लभ्यत इत्यर्थः । कथं लभ्यत इत्युच्यते—  
तस्याऽऽत्मकामस्यैव आत्मा विवृणुते प्रकायति पारमार्थिकीं तनुं स्वां  
स्वकीयां स्वयाथात्म्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

आ० टी०—न बहुना श्रुतेनेति । आत्मप्रतिपादकोपनिषद्विचारातिरिक्तशास्त्रश्र-  
वणेन न लभ्य उपनिषद्विचारेणापि । केवलेनेति । मिद्धापदेशरहितेन न लभ्यत  
इत्यर्थः । परमेश्वराचार्यानुग्रहेण तु लभ्यत इत्याह—यमेवेति । स्वात्मानमेव साधकः  
श्रवणमननादिभिर्वृणुते संमजते श्रवणादिकालेऽपि सोऽहमित्यभेदेनैवानुसंधत इत्यर्थः ।  
तेनैवेति । लक्षणया परमात्मानुग्रहेणैव वरित्राऽभेदानुसंधानवता यथानुसंधानमात्मत-  
यैव परमात्मा लभ्यो भवतीत्यर्थः । वैपरीत्येन वा योजना । आत्मा त्वेष प्रकरणी पर-  
मात्माऽन्तर्यामिरूपेणाऽऽचार्यरूपेण वा व्यवस्थितो यमेव मुमुक्षुं वृणुते भजतेऽनुगृह्णाति  
तेनैव परमेश्वरानुगृहीतेनाभेदानुसंधानवता लभ्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

गो० टी०—ननूपायं विना पण्डितस्य सुज्ञेयश्चेदनात्मज्ञस्यापि तथा स्यादित्या-  
शङ्क्योपायं विना न पण्डितस्यापि ज्ञेय इत्याह—यद्यपीति । दुर्विज्ञेयः पण्डितस्या-  
पीति शेषः । न ज्ञेय इत्यन्वयः । न बहुनेति । आत्मप्रतिपादकोपनिषद्विचाराति-  
रिक्तशास्त्रेण न लभ्य इत्यर्थः । केवलेनेति । गुरुपदेशरहितेनेत्यर्थः । ईश्वराचार्या-  
नुग्रहेणाऽऽत्मा लभ्य इत्याकाङ्क्षापूर्वकमाह—केनेत्यादिना । स्वात्मानमेव प्रत्यक्चै-  
तन्यमेवेत्यर्थः । साधकोऽधिकारी प्रार्थयते भजते श्रवणादिकालेऽपि प्रत्यग्ब्रह्मैवाहमि-  
त्यनुसंधते । तेनैवाऽऽत्मना तदनुग्रहेण [वरित्रा] संपरिज्ञात्रा पूर्वोक्तानुसंधानवता यथा-  
नुधानं स्वयं प्रत्यगात्मतयाऽऽत्मा परमात्मा लभ्य इत्यर्थः । अथैष प्रकरणी परमात्माऽ-  
न्तर्यामिरूपेणाऽऽचार्यरूपेण वा व्यवस्थितो यमेव साधकं वृणुतेऽनुगृह्णाति तेन परमे-  
श्वरानुग्रहः पत्यग्ब्रह्मैक्याननुसंधानवता मुमुक्षुणा लभ्य इत्यर्थः । पदार्थमुक्त्वा वाक्या-  
र्थमाह—एवमिति । तेन लभ्यत ( लभ्य ) इतिवाक्यविवरणत्वेनोत्तरमवतारयति—  
कथमित्यादिना । अधिकारिणः परमं तत्त्वमीश्वरानुग्रहात्प्रकाशत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

१ झ. झ. ट. 'भ्यो ज्ञातभ्य ए' । २ क. ख. घ. ङ. ज. झ. झ. ट. ठ. 'त इत्ये' ।  
३ क. ख. च. ज. 'ष्कामश्चाऽऽत्मा' । ङ. 'ष्कामनं स्वमात्मा' । ४ च. 'मेष प्रा' । ५ क. ख.  
ङ. च. झ. 'यते । आ' । झ. झ. ट. 'यमानस्याऽऽ' । ६ च. झ. झ. ट. 'भ्य इ' । ७ ग. झ. झ.  
ट. 'भ्य इ' । ८ क. ख. ज. 'कीं स्वां तनुं स्व' । ९ क. 'कीयं स्व' । १० क. यां 'या' । ग.  
घ. ङ. 'वां स्वं या' ।



किंचान्यत्—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

न दुश्चरितात्प्रतिषिद्धाच्छ्रुतिस्मृत्यविहितात्पापकर्मणोऽविरतोऽनुपरतः । नापीन्द्रियलौल्यादशान्तोऽनुपरतः । नाप्यसमाहितोऽनेकाग्रमनाविक्षिप्तचित्तः । समाहितचित्तोऽपि सन्समाधानफलार्थित्वात्प्राप्यशान्तमानसो व्यापृतचित्तैः । प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैवं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात् । यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चाऽऽचार्यवान्प्रज्ञानेन यथोक्तमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

आ० टी०—दुश्चरितं कायिकं पापम् ॥ २४ ॥

गो० टी०—इतश्चेश्वरानुग्रहलब्धप्रसादवताऽनेकसाधनवता च ज्ञातव्य आत्मेत्याह—किंचान्यदिति । दुश्चरितं कायनिर्वर्त्य पापम् । अनुपरतः प्रज्ञानेनैनमा (नं नाऽऽ)प्युयादिति संबन्धः । एवमुत्तरत्र द्रष्टव्यम् । इन्द्रियाणां लौल्यं विषयप्रवणता । तद्विपरीत एव प्राप्नुयादित्याह—यस्त्विति । विषयेभ्य इन्द्रियसमाधाने पुण्यलोकः श्रूयते तस्मादपि समाहितचित्त इत्याह—समाहितेति । ॥ २४ ॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥२॥

====

यस्त्वनेवंभूतो यस्याऽऽत्मनो ब्रह्मक्षेत्रे सर्वधर्मविधारके अपि सर्वप्राणभूते उभे ओदनोऽश्ननं भवतः स्याताम् । सर्वहरोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनमेवोदनं स्यात्शनत्वेऽप्यपर्याप्तस्तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः

१ क. ख. ज. । 'तु दु' । २ क. ख. ज. 'णो नावि' । ३ घ. 'सोऽध्या' । ४ क. ख. घ. ज. 'चित्तो वाऽऽत्मानं प्राप्नुयात् । प्र' । ५ क. 'त. केन प्राप्नुयादित्युच्यते । प्र' । ६ क. ज. 'क्ष च क्षत्रं च ब्रह्मक्ष' । ७ क. 'वंप्राण' । ज. 'वंप्राणुभू' । ८ क. ख. ज. 'दनमश' । घ. 'दमोऽन्न भ' । ९ ग. घ. ज. 'नमिषौ' । १० ज. ट. 'नस्योपसेचन' ।

सन्क इत्या इत्यमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः । वेद विजानाति यत्र  
स आत्मेति ॥ २५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-  
श्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये  
प्रथमाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

आ० टी०—यस्त्वेवंभूत उक्तसाधनसंपन्नो न भवति स कथं वेदेति संबन्धः ।  
अशनत्वेऽप्यपर्याप्त इति । अन्नत्वेऽप्यसमर्थः शाकस्थानीय इत्यर्थः । यत्र स्वे  
महिम्नि स विश्वोपसंहर्ता तथाभूतं तं को वेदेति संबन्धः ॥ २५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविर-  
चिते काठकोपनिषद्भाष्यन्याख्याने द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥ २ ॥

गो० टी०—यस्त्वेवंभूत इति । उक्तसाधनसंपन्नो न भवति स कथं वेदेति  
संबन्धः । यद्ब्रह्मसाधनवता विज्ञेयं तन्निर्दिशति—यस्येति । सर्वधर्मविधारकत्वं सर्व-  
त्राणे हेतुः । सर्वत्राणभूते अपत्यन्वयः । अशनत्वेऽप्यपर्याप्त इत्यन्नत्वेऽप्यपर्याप्तः  
शाकस्थानीय इत्यर्थः । क इतिशब्दार्थमाह—प्राकृतबुद्धिरिति । इत्याशब्दार्थमाह—  
एवमिति । यत्र स्वमहिम्नि सोऽत्ता वर्तते तथाभूतं को वेदेत्यन्वयः ॥ २५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्ब्रह्मगोपालेन्द्रयतीश्वरविरचिते काठ-  
कोपनिषद्भाष्यविवरणे प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥ २ ॥

ऋतं पिबन्तावित्यस्या बल्लयाः संबन्धः । विद्याविद्ये नानाविरुद्ध-  
फले इत्युपन्यस्ते न तु सफले ते यथावन्निर्णीते । तन्निर्णयार्था रथरूप-  
ककल्पना, तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम् । एवं च प्राप्तुं प्राप्यैगन्तुं गन्तव्य-  
विवेकार्थं द्वावात्मानावुपन्यस्येते—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे  
परार्थे (धर्म्ये) । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्रयो  
ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

ऋतं सत्यमवश्यंभाषित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ । एकस्तत्र कर्मफलं  
पिबति भुङ्क्ते नेतरस्तथाऽपि पातृसंबन्धात्पिबन्तावित्युच्यते छत्रिन्या-

१ अ. ज. 'थार्य र' । २ ग. क. च. ज. झ. न. ट. 'प्राप्यप्राप्तुं' । ल. घ. 'प्राप्तुप्राप्तुं' ।  
३ ग. च. 'ध्यगन्त' । ४ क. क. च. ज. 'र्थे रथरूपकद्वारा द्वा' ।

चेने । सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मण ऋतमिति पूर्वेण संबन्धः । लोकेऽ-  
स्मिन्मन्त्रे । गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ । परमे बाह्यपुरुषाकाशसंस्था-  
नापेक्षया परमम् । परस्यै ब्रह्मणोऽर्थे स्थानं परार्थं ( धर्म )म् । तस्मिन्नि-  
परं ब्रह्मोपलभ्यते । अतस्तस्मिन्परमे परार्थं ( धर्म ) हार्दाकाशे प्रविष्टावि-  
त्यर्थः । तौ च उच्छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन ब्रह्म-  
भिदो वदन्ति कथयन्ति । न केवलमकर्मिण एव षदन्ति । पञ्चाग्रयो  
गृहस्थाः । ये च त्रिणाचिकेताः, त्रिकृत्वो नाचिकेतोऽभिहितो यैस्ते  
त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

आ० टा०—रथरूपककल्पनेति । प्रतिद्वयसादृश्यकल्पनेत्यर्थः । ऋतपामकर्ता  
जीवस्तावदेकश्चेतनः भिदो द्वितीयाग्नेषणायां लोके संख्याश्रवणे समानस्वभावे प्रथम-  
प्रतीतिदर्शनाच्चेतनतया समानस्वभावः परमात्मैव द्वितीयः प्रतीयते । तस्य चोपचारा-  
दृत्तप तृत्वमित्यर्थः । बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानं देहाश्रय आकाशप्रदेशः । पञ्चाग्रय  
इति । गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीयः सभ्य आवसथ्यश्चेत्येते पञ्चाग्रयो येषां ते  
यथोक्ताः । द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषिस्वग्निदृष्टिं ये कुर्वन्ति तेऽग्निहोत्रादिकारिणस्ते  
वा पञ्चाग्रय इत्यर्थः ॥ १ ॥

गो० टी०—पूर्वोत्तरवल्लीनां संबन्धं दर्शयन्नूत्तरवल्या अगतार्थत्वमाह—ऋतमि-  
त्यादिना । संबन्ध इति । पूर्वाम्यामभिधीयत इति शेषः । नानाफले इत्युक्ते पशु-  
ब्रह्मवर्चसादिवदविरुद्धत्वं स्यात्तद्वारयति—विरुद्धेति । इतिरुक्तपरामर्शी । उपन्यस्ते  
इति । पूर्वयोर्वल्लुचोरिति शेषः । न त्विति । सफले ते विद्याविद्ये यथावत्स्वरूपतः  
सावनतः फलतश्च न निर्णते इत्यर्थः । ननु ते एव निर्णीर्णे तव्ये किमिति रथि-  
रथादिकल्पनेत्यत आह—उन्निर्णयार्थेति । यद्यपि स्वरूपतो निरूप्येते तथाऽपि ज्ञाने  
सौकर्यमित्याह—तथा चेति । ननु रूपकेण विद्याविद्ये निरूप्ये किमिति द्वावृतपान-  
कर्तासावभिधीयेते इत्यत आह—एवं चेति । रूपके रथा प्राप्ता प्राप्यं पदं गन्ता ज्ञाता  
गन्तव्यं त्रिणोः पदम् । वश्च गन्ता किंच पदं गन्तव्यमिति विवेकार्थं द्वावात्मानावुपन्य-

१ झ. झ. ट. 'न । न हि केवलस्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वमस्ति । बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव भोक्तृत्वम् ।  
एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य + पदस्याऽऽत्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते नान्यथा सुकृ' ।  
२ क. 'रमे पदार्थे प' । ग. घ. 'रमे । प' । ३ क. झ. ग. ज. म. 'स्य च ब्र' । ४ क. 'धार्दा-  
काशं त' । ५ घ. झ. झ. परब्र' । ६ क. 'लक्ष्यते । ७ क. झ. घ. ङ. ज झ. 'ते । तस्मि' ।  
८ द. 'ते । तत' ।

स्येते इत्यर्थः । नन्वात्मशब्दश्चेतनावाची न च द्वौ चेतनौ प्रतीयेते ऋतपानकर्तृमात्रप्रती-  
 तेस्तत्कथमात्मानावित्युच्येते इति चेन्न । एकस्तावत्कर्मफलभोक्ता जीवश्चेतनः सिद्धो  
 द्वितीयान्वेषणायां सत्यां संख्याश्रवणेऽस्य गौर्द्वितीयोऽवेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽ-  
 न्विष्यते नाश्वो लोक एव चेतन एव द्वितीयो ऋतपानकर्ता प्रतीयत इति नाऽऽत्मशब्दे  
 विरोध इति भावः । अत्रर्तशब्दः सत्यवचनोऽपि गुणयोगात्कर्मफलवाचीत्याह—  
 ऋतमित्यादिना । नन्वस्मिन्वाक्ये जीवेश्वरावेव चेतनावुपन्यस्येते न च द्वयोः कर्म-  
 फलसंबन्ध ईश्वरस्य तदसंमवात्कथं पिबन्तावित्यत आह—एक इति । जीव इत्यर्थः ।  
 इतर ईश्वर इत्यर्थः । कथं पिबन्तावित्यत आह—तथाऽपीति । पातुसंबन्धादिति ।  
 पाता जीवरतत्संबन्धादित्यर्थः । छत्रिन्यायेनेति । यथा लोके छत्रिणो गच्छन्तीति  
 प्रयोगे सपरिवारे राज्ञि गच्छति छद्मच्छत्रिसमुदाये छत्रिशब्दो वर्तत एकसमूहवाचि-  
 त्वेनैवं पिबदपिबत्समुदाये पिबतिवर्तत इत्यर्थः । सुकृतस्य लोक इत्यन्वयभ्रमं वारय-  
 ति—ऋतमितीति । बाह्यपुरुषाकाश [सं]स्थानं देहाश्रय आकाशप्रदेशः । स्थान-  
 मित्यनन्तरमर्हतीति द्रष्टव्यम् । परार्ध इति काचित्कः श्रुतिपाठस्तस्मिन्पक्षे सुगमम् ।  
 परार्ध ध्वंजत्वमुपपादयति—तस्मिन्निति । अत इति । यतः परब्रह्मोपलब्धिस्थान-  
 मत इत्यर्थः । गार्हपत्यो दक्षिणाग्निगृहवनीयः सम्य आवसथ्यश्चेते पञ्चाग्नयो येषां  
 ते पञ्चाग्नयः । ह्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोपित्मु येऽग्निदृष्टिं कुर्वन्ति ते वा पञ्चाग्नयः ।  
 पञ्चाग्नयस्त्रिणाचिकेतलक्षणा वदन्तीति संबन्धः ॥ १ ॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् । अभयं  
 तितीर्षतां पारं नाचिकेतश्च शकेमहि ॥ २ ॥

यः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसंसारार्थ-  
 त्वात्त्राचिकेतोऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं जेतुं च शकेमहि शक्नुवन्तः । किंच  
 यथाभयं भयशून्यं संसारंपारं तितीर्षतां तर्तुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्पर-  
 माश्रयमक्षरमात्मारुयं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः । परापरे  
 ब्रह्मणी कर्मब्रह्मविदाश्रये वेदितव्ये इति वाक्यार्थः । एतयोरेव ह्युपन्यासः  
 कृत ऋतं पिबन्ताविति ॥ २ ॥

आ० टी०—ननु न सन्ति ब्रह्मविदः पञ्चाग्निविदश्च सांप्रतमनुपलम्भादित्याशङ्क्य  
 पूर्वविद्वदनुभवविरोधमाह—यः सेतुरिवेत्यादिना । पूर्वेषां यद्यपि ब्रह्मविद्वादि संभवति  
 प्रभावातिशयात्तथाऽपि नाऽऽधुनिकानामरूपप्रज्ञानां संभवतीत्याशङ्क्य चेतनत्वात्स्वाभा-  
 विकी ज्ञातृत्वयोग्यताऽस्तीत्यभिप्रेत्य तात्पर्यमाह—परापरे इति ॥ २ ॥

१ क. 'आचिकेतं नाचि' । २ घ. 'केतस्तं व' । ३ क. 'रस्य पा' । ४ क. ख. क. ग. हि ।  
 प' । ५ क. घ. 'र्थः : ययो' । क. 'र्थः । तयो' ।

मो० टी०— ननु न सन्त्येव ब्रह्मविदः पञ्चाग्निविदश्चानुपलम्भादित्याशङ्क्य पूर्व-  
विद्वदनुभवविरोधमाह—यः सेतुरिति । कर्मिणामिति । कर्मानुष्ठानवतामित्यर्थः ।  
विराड्द्रुपाग्नेः सेतुत्वं व्युत्पादयति—दुःखेति । दुःखाय संतरणं निवृत्तिः सैवार्थः  
प्रयोजनं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादित्यर्थः । नाचिकेतोऽग्निरुक्तहेतोः सेतुरिव सेतुर्थ  
इति पूर्वेण संबन्धः । तं नाचिकेताग्निं न केवलं ज्ञातुं किंतु कर्तुमपीत्याह—चेतुमिति ।  
संकोचकप्रमाणाभावात्सर्वभयातीतमित्याह—संसारपारमिति । संसारातीतमित्यर्थः ।  
तर्तुमिच्छतां प्राप्तुमिच्छताम् । आश्रयमवलम्बनम् । न क्षरतीत्यक्षरं षड्भावाविकार-  
शून्यं न परोक्षं किंतु प्रत्यग्भूतमित्यर्थः । चकारादपरब्रह्मात्मकाग्निं ज्ञातुं चेतुं पर-  
ब्रह्म ज्ञातुमेव शक्नुवन्त इत्येतत्समुच्चयोऽवगम्यते । ननु यद्यपि पूर्वेषां ब्रह्म-  
वित्त्वं संभवति महामहिमत्वात्तथाऽपि नाऽऽधुनिकानामल्पप्रज्ञानामित्याशङ्क्य प्रमा-  
तृमात्रस्य चेतनत्वेन ज्ञातृत्वशक्तियोग्यतेश्वरानुग्रहादिना संभवतीत्यभिप्रेत्य तात्प-  
र्यमाह—परापरे इति । कर्मविदाश्रयोऽपरं ब्रह्म ब्रह्मविदाश्रयः परं ब्रह्मेति विभागः ।  
ननु नर्तपानकत्रोर्ब्रह्मवित्प्रसिद्धत्वमन्ययोरेवेत्याशङ्क्याऽऽह—एतयोरिति । कर्म-  
ब्रह्मविदाश्रययोः परापरब्रह्मणोर्ऋतं पिबन्तावित्यत्रोपन्यासो हि यस्मात्कृतस्तस्मा-  
त्तान्यत्वाशङ्केत्यर्थः । २ ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

तत्र य उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्षगमनाय  
संसारगमनाय च तस्य तदुभयगमने साधनो रथः कल्पयते । तत्र तमा-  
त्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि । शरीरं रथ-  
मेव तु रथबद्धहयस्थानीयैरिन्द्रियैराकुष्यमाणत्वाच्छरीरस्य । बुद्धिं तु,  
अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृप्रधानत्वाच्छरीरस्य । सारथि-  
नेतृप्रधान इव रथः । सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव प्रायेण ।  
मनः संकल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रथनां विद्धि । मनसा हि प्रगृ-  
हीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रथनयेवाश्वाः ॥ ३ ॥

आ० टी०—तत्रेति । तयोः प्रथमग्रन्थोक्तयोरुत्तमोर्मध्ये ॥ ३ ॥

गो० टी०— रथरूपकवाक्यमवतारयति—तत्रेति । जीवात्मपरमात्मनोर्मध्ये । उपा-  
धिकृत उपाधिपरिच्छिन्न इत्यर्थः । ईश्वरं व्यावर्तयति—संसारीति । मुक्तजीवं

\* अत्र टीकानुरोधेन विकल्पशब्दोऽधिकः ।

१ झ. म. ट. 'कृतोऽतो मो' । २ क. 'ल्यत इत्याह त' । ३ क. ख. ग. घ. ङ. झ. ट.  
तत्राऽऽत्मा' । ४ क. ख. ज. प्रहमेव च र ।

व्यावर्तयति-विद्येत्यादिना । साक्षात्कारकर्मणोस्त्वित्यर्थः । कस्मै प्रयोजनायेत्याकाङ्क्षायामाह-मोक्षेति । विद्यायामधिकृतो मोक्षगमनायाविद्यायामधिकृतः संसारसमनायेति विभागः । तस्मेति । त्रिद्याविद्ययोरधिकृतस्य तदुभयगमनसाधनः संसारमोक्षगमनसाधनः । रथगमनागमनजन्मफलमोक्षतृष्णामिसाम्यं विवक्षित्वा तमाह-तमिति । शुद्धचेतस्य व्यावर्तयति-ऋतपमिति । ईश्वरं व्यावर्तयति-संसारिणमिति । रथस्वामिजमिति । रथतादात्म्याभिमानिनमित्यर्थः । शरीरस्य रथत्वसाम्ये हेतुमाह-रथवदिति । अन्तःकरणस्यैक्येऽपि वृत्तिभेदेन भेदं विवक्षित्वा सारथिप्रग्रहकरूपनेत्याह-बुद्धिं त्विति । अध्यवसायलक्षणाम् । अध्यवसायो निश्चयो लक्षणं स्वरूपं यस्याः सारथिमित्यर्थः । पूर्ववत्साम्ये हेतुमाह-बुद्धीति । बुद्धिर्नेता(त्री)प्रापयित्री प्रधानं स्वतन्त्रभूता यस्य शरीरस्य तत्तथा तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह-सारथिनेतृप्रधान इव रथ इति । सारथिर्नेता प्रापयिता प्रधानः स्वतन्त्रो यस्य स इवेत्यर्थः । ननु मनआदीन्यपि शरीरनेतृणि तत्कथं बुद्धेरेव नेतृत्वेन सारथित्वमस्य आह-सर्वे हीति । देहगतं सर्वं कार्यं गमनगमनादि प्रायेण बुद्ध्या कर्तव्यं हि यस्मात्तस्मात्प्रायिकाभिप्रायेण बुद्धेरेव नेतृत्वात्सारथित्वं युक्तमित्यर्थः । सारथिहस्ते विद्यमानं हयाकर्षणसूत्रं प्रग्रहशब्दितं मन इत्याह-मन इति । संकल्प इदमेवं करिष्य इति वृत्तिः । आदिशब्देन विकल्पो गृह्यते । स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्त्यादिस्तत्स्वरूपमित्यर्थः । तस्य रथत्वं प्रसिद्धरथनासाम्येनोपमादयति-मनसेत्यादिना । प्रगृहीतात्याकृष्टानि । रथमयेति । यथा सूत्रेणाश्वा आकृष्यन्ते तद्वदित्यर्थः ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयानाहू रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षणसामान्यात् । तेष्वेवेन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान्पार्श्वान्तरुपादीनि विषयान्विद्धि । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहुर्मनीषिणो विवेकिनः । न हि केवलस्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वमस्ति बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम् । तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति-ध्यायतीव लेलापतीवेत्यादि । एवं च साति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्याऽऽत्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते नान्यथा स्वभावानतिक्रमात् ॥ ४ ॥

आ० टी०—आत्मा रथस्वामी यः कल्पितस्तस्य भोक्तृत्वं च न स्वाभाविकमित्याह—आत्मेन्द्रियमनोयुक्तमिति । औपाधिके भोक्तृत्वेऽन्वयव्यतिरेकौ शास्त्रं च प्रमाणमित्याह—न हि केवलस्येति । वैष्णवपदप्राप्तिश्रुत्यनुपपत्त्याऽपि न स्वाभाविकं भोक्तृत्वं वाच्यमित्याह—एवं च सतीति ॥ ४ ॥

गो० टी०—प्रग्रहवत्सारथिरास्या(स्य)धिष्ठितरथाकर्षकहयतुल्यानीन्द्रियाणीत्यह—इन्द्रियाणीति । क इत्याकाङ्क्षायामाह—रथेति । रथत्वेन शरीरं कल्पयन्ति निरूपयन्ति येऽध्यात्मविदस्त इत्यर्थः । पूर्ववत्साम्ये हेतुमाह—शरीरेति । आकर्षणं हयधर्मस्तत्साम्यादित्यर्थः । यथा अद्रसेनस्य राज्ञो रथिनो रथहयगन्तव्यमार्गाः कुरव एवमिन्द्रियहयगन्तव्य(मार्गा) विषया इत्याह—तेष्विति । तच्छब्दं व्याचष्टे—इन्द्रियेष्वित्यादिना । आदिशब्देन स्पर्शशब्दरसगन्धा गृह्यन्ते । रथस्वामित्वेन य आत्मा कल्पितस्तस्य भोक्तृत्वं च न स्वाभाविकमित्याह—आत्मेन्द्रियमनोयुक्तमिति । औपाधिकभोक्तृत्वेऽन्वयव्यतिरेकौ शास्त्रं च प्रमाणमित्याह—न हि केवलस्येति । उपाध्यपरिच्छिन्नस्येत्यर्थः । शास्त्रमुदाहरति—तथा चेति । ध्यायतीति छेदयतीति वेत्नादिश्रुत्यन्तरमुपाध्यनपरिच्छिन्नस्यासंसारित्वमेव दर्शयति न संसारित्वमित्यर्थः । वैष्णवपदप्राप्तिश्रुत्यनुपपत्त्याऽपि न स्वाभाविकसंपारित्वमित्याह—एवं च सतीति । औपाधिके भोक्तृत्वे सतीत्यर्थः । वक्ष्यमाणा या रथकल्पना विज्ञानसारथिर्यस्त्वित्यादिना तथा वैष्णवस्य पदस्य व्यापकस्वरूपाऽऽत्मतया प्रत्यगभिन्नत्वेन प्रतिपत्तिः प्राप्तिरवस्थानमुपपद्यत इत्यर्थः । नान्यथेति । अन्यथा संसारित्वस्य स्वाभाविकत्वेन प्रतिपत्तिर्नोपपद्यत इत्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—स्वभावानतिक्रमादिति । स्वभावस्य पदमार्थिकस्य संसारित्वस्यातिक्रमादतिक्रमाभावात्त्यागाभावादसंसारिवैष्णवपदप्राप्तिर्नेत्यर्थः ॥ ४ ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

तत्रैवं संति यस्तु बुद्धिषारथः सारथिरविज्ञानवाननिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति यथेतरो रथचर्यायामयुक्तेनाप्रगृहीतेनासमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदा युक्तो भवति तस्याङ्गुलस्य बुद्धिसारथोरिन्द्रियाण्यवश्यानि विषयवश्यान्यङ्गुलान्यनिवारणीयानि दुष्टाश्वा अर्दान्ताश्वा इवेतरसारथेर्भवन्ति ॥ ५ ॥

\* अशक्यनिवारणीति पाठो युक्तस्तस्यैव टीकाकृताऽऽहतत्वात् ।

१ म. म. ट. 'ती नि' । २ घ. 'ति तथे' । ३ म. 'लस्यावु' ४ ग. क. म. म. ट. 'दान्ता इ' ।

आ० टी०—॥ ५ ॥

गो० टी०—पूर्वोक्तान्वयव्यतिरेकाद्युपसंहरति--तत्रेति । तत्र संसारित्वस्यास्वाभाविकत्वे । एवमुक्तप्रकारेण । यस्त्विति । यथा येन प्रकारेणेतरः सारथी रथगमने प्रग्रहेणायुक्तस्तथाऽसमाहितेन प्रग्रहस्थानीयेन मनसा युक्तो यस्तु कर्तव्याकर्तव्ययोरनिपुणो भवतीत्यर्थः । अविज्ञानवत्त्वेन न विज्ञानसामान्याभावः किंतु बुद्धिगतातिशयाभावः । सोऽप्यविवेकरूप इत्यर्थः । अबु(र्थः । बु )द्धिसारथेरविवेकसारथेः । अशक्यनिवारणीयानी(रणानी)ति । विषयेभ्य इति शेषः । इतरसारथेर्लौकिकस्यादान्ताश्वाः कुमार्गाद्यथा निवर्तयितुं न शक्यन्ते तथा बुद्धिसारथेरसमाहितान्द्रियाप्यशक्यनिवारणानि भवन्तीत्यन्वयः ॥ ५ ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सदा तस्याश्वस्थानीयानीन्द्रियाणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः ॥ ६ ॥

आ० टी०—॥ ६ ॥

गो० टी०—पूर्वोक्तविपरीत इति । अविवेकसारथेर्भिन्न इत्यर्थः । मनोनियतौ हेतुमाह—समाहितेति । विषयस्मरणवाञ्छितनिग्रहे विषयविकल्पात्मकं मनो निगृहीतं भवतीति भावः । शक्यानि कर्तव्याकर्तव्ययोरिति शेषः । सत्पदस्यार्थमाह—दान्ता इति । लौकिकसारथिशिक्षिताश्वा इव समाहितचित्ततया प्रगृहीतमनसः शक्यानीन्द्रियाणि कर्तव्याकर्तव्ययोर्निग्रहीतमित्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्य पूर्वोक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह—

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।

न स तत्पदमाप्नोति सत्सारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवति । अमनस्कः सोऽप्रगृहीतमनस्कः स तत् एवाशुचिः सदैव । न स रथी तत्पूर्वोक्तमक्षरं यत्परं पदमाप्नोति तेन सार-

१ क. ख. ग. घ. 'रीतसा' । २ क. ख. 'वाग्निपुणो विवेकवान्युक्ते' मनसा प्रगृ' । म. 'वाग्निपुणो विवेकवान्प्र' । ३ ख. ज. 'नि दा' । ४ क. ख. घ. ङ. च. ज. ट. ठ. तत्र पू' । ५ क. झ. म. ट. 'स्कोऽपरिगृ' । ६ ग. झ. ज. न सारथी । ७ ग. घ. च. 'रं ब्रह्म य' । ८ क. झ. म. ट. पदं प्राप्नो' ।



चिन्ता । न केवलं कैवल्यं नाऽऽप्नोति संसारं च जन्मरणलक्षणम-  
धिगच्छति ॥ ७ ॥

आ० टी०—॥ ७ ॥

गो० टी०—अविवेकबुद्धेरनियतेन्द्रियस्य फलपरत्वेनोत्तरं वाक्यमवतारयति—  
सस्येत्यादिना । मनोनिग्रहाभावेऽविवेकित्वादिन्द्रियपारवश्येन पाप्मोपचये क्लृप्ता-  
न्तःकरणोऽशुचिरित्याह—तत एवेति । कार्यब्रह्मव्यावृत्त्यर्थमाह—परधिति । अनु-  
चेतनस्य बन्धो यस्य बन्धस्तस्य मोक्षो बुद्धेश्च बन्धाभावाद्यत्परं पदं तदक्षराख्यं सार-  
धिर्नाऽऽप्नोतीति कथमुच्यते तत्राऽऽह—तेनेति । चेतन इति शेषः । कैवल्यं राज-  
पुरप्रवेशस्थानीयमित्यर्थः । जन्ममरणादिलक्षणं कण्ठकपाषाणाद्युपप्लुतदेशतुल्यम् ॥ ७ ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥

यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान्निज्ञानवत्सारथ्युपेतो रथी विद्वानित्येतत् ।  
युक्तमनाः समनस्कः स तत एव सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति ।  
यस्मादासात्पदादमच्युतः सन्भूयः पुनर्न जायते संसारे ॥ ८ ॥

आ० टी०—॥ ८ ॥

गो० टी०—तद्विषयीतस्य पदप्राप्तिरित्याह—यस्तिष्ठति । कर्तव्याकर्तव्यविवेको  
विज्ञानं तद्वान्यः सारथिर्बुद्धिरूपस्तेनोपेत इत्यर्थः । विद्वानिति । क्रमेणेति शेषः ।  
तत एव निगृहीतमनस्कत्वादेव । सदा शुचिरिति । स्वच्छान्तःकरण इत्यर्थः । तच्च  
पदं न सातिशयमित्याह—यस्मादिति ॥ ८ ॥

किं तत्पदमित्याह—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः । सोऽध्वनः

पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनःप्रग्रहवान्-  
निगृहीतमनाः समाहितचित्तः सञ्शुचिर्नरो विद्वान्सोऽध्वनः संसारगतेः  
पारं परमेवाधिगन्तव्यमित्येतदमाप्नोति मुच्यते सर्वसंसारबन्धनैः ।

१ क. 'लं तन्नाऽऽप्नो' । ख. ग. घ. ङ. च. ज. झ. ट. ठ. 'लं ना' । २ ठ. 'ति—यस्तिष्ठत्या' ।  
३ क. ख. ज. 'वान्भवति विज्ञा' । ४ ङ. च. 'चिः संस्तु त' । ५ घ. स त' । ६ ङ. झ. झ. ट.  
'दात्मनः पदा' । ७ घ. 'इच्छु' ८ ङ. झ. ङ. ट. 'कसा' । ९ ख. ग. घ. च. 'र्वोक्तम' । १० घ.  
'वान्युही' । ११ ङ. च. झ. ट. 'तेः परं पार' । १२ घ. ङ. 'रं पारमे' । १३ ङ. झ. झ. ट.  
परमिवा' । १४ क. ख. ग. ज. पूर्वैः सं' । १५ ख. घ. ङ. च. 'नैः । विष्णो' ।

तद्विष्णोर्व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं  
परं स्थानं सतत्त्वमित्येतद्यदसावाप्नोति विद्वान् ॥ ९ ॥

आ० टी०—॥ ९ ॥

गो० टी०—तत्र हेतुत्वेन पदस्वरूपमाकाङ्क्षापूर्वकं दर्शयति—किमित्यादिना ।  
निगृहीतमनास्तत्त्वं यदार्थाविवेकवानात्मनि समाहितचित्तः सन्निदिध्यासनवांस्तेन गतप्रति-  
बन्धः शुचिर्नरो विद्वानप्रतिबन्धेन साक्षात्कारवान्यः सोऽध्वनः संसारान्तर्भूतदेवयान-  
दक्षिणायनाधोगतिरूपाया गतेः परं तदप्राप्यं तदाप्नोतीत्यर्थः । नन्वात्मस्वरूपस्य  
नित्याप्तत्वादाप्नोतीति कथं तत्राऽऽह—मुच्यते इति । प्रत्यगितरयोरावरकाज्ञाननि-  
वृत्तावाप्नोतीत्यौषचारिकमिति भावः । आकाशं व्यावर्तयति—ब्रह्मण इति । हिरण्य-  
गर्भं व्यावर्तयति—वासुदेवाख्यस्येति । वासुदेव इत्याख्या यस्य सः । वासयति  
भूतानि स्वस्मिन्निति वासुः स चासौ देवश्च दीव्यते इति स्वप्रकाशः स वासुदेव इत्यर्थः ।  
अनेन तत्पदवाच्यमभिहितम् । तस्य लक्ष्यमाह—परममिति । अथवा षष्ठी राहोः  
शिर इतिवशौषचारिकी । व्यापकं प्रकृष्टं पदमित्यर्थः । सतत्त्वं स्वरूपम् ॥ ९ ॥

अधुना यत्पदं गन्तव्यं तस्येन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्मतारतम्य-  
क्रमेण प्रत्यगात्मतयाऽधिगमः कर्तव्य इत्येवमर्थमिदमारभ्यते—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १० ॥

स्थूलानि तावादिन्द्रियाणि तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनायाऽऽरब्धानि  
तेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्म-  
भूताश्च । तेभ्योऽप्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः ।  
मनःशब्दवाच्यं मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मम् । संकल्पविकल्पपाद्यारम्भक-  
त्वान्मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा महत्तरा प्रत्यगात्मभूर्ता च बुद्धिशब्द-  
वाच्यमध्यवसायाद्यारम्भकं भूतसूक्ष्मम् । बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिवुद्धीनां  
प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान्सर्वमहत्त्वादव्यव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हिरण्य-  
गर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ॥ १० ॥

१ ङा. 'लज्ज' । २ क. 'तत्पदमेवाऽऽप्नोति वि' । ख. ज. 'तस्य पदमवाप्नोति वि' । घ. तत्प-  
दमाप्नोति वि' । ३ क. 'सश्च प' । ४ ख. ज. तेभ्यो ह्यर्थे' । ङ. तेभ्योऽर्थे' । ५ ङ. झ. व्य. ट.  
'इन्महदादिपदं सर्वत्र व्यापकत्वेन ज्ञेयमत्र प्रत्य' । ६ ग. घ. 'कल्पकाया' । ७ ग. घ. सूक्ष्मा म' ।  
८ क. ज. झ. 'ता बु' । ९ घ. 'थमजा' । १० क. ख. ङ. ज. 'तं हिरण्यगर्भत' . च. 'तं हिर' ।  
छ. 'तं हिरण्यगर्भत' ।

आ० टी०—प्रत्यगात्मभूताश्चेति । प्रत्यगनपायिस्वरूपभूता इत्यर्थः । नन्वर्थेभ्यो मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मं परम् । तस्माद्बुद्ध्यारम्भकं भूतसूक्ष्मं परमिति न युक्तम् । कार्यापेक्षया गुपादानमुपचितावयवं व्यापकमनपायिस्वरूपं च प्रसिद्धम् । यथा घटादेर्मृदादिः । न चेह भूतसूक्ष्माणां परस्परकार्यकारणभावे मानमस्ति । सत्यम् । तथाऽपि विषयेन्द्रियव्यवहारस्य मनोधीनतादर्शनान्मनस्तावद्व्यापकं कल्प्यते । तच्च परमार्थत एवाऽऽत्मभूतमिति केषांचिद्भ्रमस्तन्निरासायोक्तं मनःशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्ममिति । अन्नमयं हि सोम्य मन इत्यादिश्रुतेर्मौक्तिकत्वावगमादन्नभावाभावाभ्यामुपचयापचयदर्शनाद्भौतिकमेव तत् । तस्य च संकल्पादिलक्षणस्याध्यवसायनियम्यत्वाद्बुद्धि (द्वे)स्ततः पर[स्व]मिति । बुद्धिश्चाऽऽत्मेति । केषांचिदभिमानस्तदपनर्णमाह—बुद्धिशब्दवाच्यमिति । करणत्वादिन्द्रियबुद्धेर्भौतिकत्वं सिद्धम् । करणत्वं च स्वबुद्ध्याऽहमुपलभ्य इत्यनुभवात्सिद्धम् । ततो भूतावयवसंस्थानेष्वेवार्थादिषूत्तरोत्तरं परापरत्वं (परत्वं) कल्प्यं परमपुरुषार्थादिदर्शयिषया । न त्वर्थादीनां परत्वं प्रतिपिपादायिषितं प्रयोजनाभावाद्वाक्यभेदप्रसङ्गाच्चेति । सुरनरतिर्यगादिबुद्धीनां विधारकत्वात्सातत्यगमनाशत्मोच्यते । सप्रसङ्गकं हिरण्यगर्भतत्त्वमित्यर्थः । बोधाबोधात्मकमिति । ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मकमित्यर्थः । अथवाऽधिकारिपुरुषाभिप्रायेण बोधात्मकत्वमव्यक्तस्याऽऽद्यः परिणाम उपाधिरपञ्चीकृतभूतात्मकस्तेन रूपेणाबोधात्मकत्वं हिरण्यगर्भस्येत्यर्थः ॥१०॥

गो० टी०—ननु तत्पदलक्ष्यविष्णोः प्रकृष्टं पदमाप्तव्यमित्युक्तं तर्कि केनचिन्मार्गेण देशविशेषे गन्तव्यं तदपि भिन्नतया ग्रामाधिगमनवद्वन्तव्यं तथात्वे मोक्षस्यानित्यत्वापत्तिस्तस्य प्रकृष्टत्वं च कथमित्याशङ्क्याऽऽह—अधुनेत्यादिना । असावधिकारी यदाप्नोतीत्येतद्व्याचष्टे—यत्पदमिति । तस्य पदस्याधिगमः कर्तव्य इत्यन्वयः । कथं प्रकृष्टत्वमित्यस्योत्तरमाह—इन्द्रियाणीति । सूक्ष्मेति । विषयमनोबुद्ध्यादिक्रमेणेत्यर्थः । तर्कि केनचिन्मार्गेण देशविशेषे भिन्नतया प्राप्तव्यं तथा चानित्यत्वापत्तिः स्वर्गदिवदित्यस्योत्तरमाह—प्रत्यगात्मतयेति । न देशपरोच्छिन्नं फलं किंतु मोहव्यवहितं तदपगमे प्रत्यग्रूपेणावस्थानमिति तद्रूपेण साक्षात्कारः संपद्यत इत्येवमर्थमुत्तरो ग्रन्थ आरभ्यत इत्यर्थः । तावच्छब्दः क्रमेणोत्तरोत्तरापेक्षया पूर्वपूर्वस्य स्थूलत्वज्ञापनपरः । इन्द्रियेभ्योऽर्धपरत्वे कारणत्वं संभावितहेतुमाह—यैरिति । आत्मप्रकाशनाय विषयज्ञानाय यैरर्थैरारब्धानि तानीन्द्रियाणि तेऽर्थाः परा इत्यन्वयः । केभ्य इत्याकाङ्क्षायां विषयकार्यभूतप्रकृतेन्द्रियेभ्य इत्याह—तेभ्य इति । त्रिधा परशब्दार्थं हिशब्दद्योतितमाह—सूक्ष्मा इत्यादिना । इन्द्रियानुस्यूतत्वात्ततः सूक्ष्मा महान्तश्च व्यापकाः । अत्र परस्परसमुच्चितं (तत्त्वं) परत्वे विवक्षितमिति चशब्दद्वयम् । ननु विषयाणामनात्मत्वात्प्रत्यगात्मभूताश्चेति कथमिति चेद्यथा प्रत्यावस्थाऽनशयिन्येवं विषया इन्द्रियेष्वनपायिन इति प्रत्यगात्मभूता इत्युच्यन्त इति भावः ।

तेभ्योऽपीति । इन्द्रियेभ्यः परत्वेनोक्तेभ्योऽपीत्यर्थः । ननु देहपरिच्छिन्नस्य मनसो न व्यापकत्वादिविषयान्प्रति सूक्ष्मत्वादिकमुपपद्यतेऽकारणत्वात्कारणस्य हि कार्य-पेक्षयोस्तत्रितयरूपत्वं यथेन्द्रियापेक्षया विषयाणां तथा च मनसः कथं सूक्ष्मत्वादि-कमित्याशङ्क्य मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मं मनःशब्दवाच्यमेकदेशेन मनोरूपेण परि-णामिविषयान्प्रति मूलाकारेण कारणमतो मनसः परत्वं विषयेभ्यो युज्यत इत्याह — मनःशब्दवाच्यमित्यादिना । बुद्धेर्मनसः सकाशात्परत्वे हेतुं वदन्वाक्यमवतारयति—संकल्पेति । तादृशस्य मनसोऽध्यवसायनियम्यत्वात्ततः परा बुद्धिरित्याह—मनसोऽ-पीति । अर्थेभ्यः परादपीत्यपेरर्थः । मनःकारणत्वाभावाद्बुद्धेः कथं परत्वमित्या-शङ्क्य परशब्दार्थकथनपूर्वकं बुद्धिशब्दार्थमाह—सूक्ष्मेत्यादिना । आदिशब्देन बुद्धिवृत्त्यवान्तरविशेषा गृह्यन्ते । ननु मनस आरम्भकभूतसूक्ष्मं प्रति कथं बुद्धचारम्भ-कभूतसूक्ष्मस्य कारणता मानाभावाद्भेदाभावाच्च विज्ञानशक्तिमदन्तःकरणस्यापञ्चीकृत-भूतसूक्ष्मसात्त्विकांशसमाष्टितो विशेषेण जन्माङ्गीकारात्तदारम्भकाणामैकार्थ्येन भेदा-भावात्तिति चेदत्र न भूतसूक्ष्मशब्देनापञ्चीकृतानां ग्रहः किंतु पञ्चीकृतान्नरूपभूत-सूक्ष्माणामिह ग्रहणं तेषामन्नमशितमित्यादिनाऽणिष्ठभागस्य प्रसिद्धेस्तस्य मनःशब्द-वाच्यान्तःकरणोपचयहेतुत्वेनोपचितान्तःकरणकारणत्वाद्दन्तःकरणस्य च निश्चयसंकल्प-शक्तिद्वयशालित्वेन निश्चयशक्तिमत्त्वात्साध्यत्वादितरस्यैतदारम्भकभूतसूक्ष्मयोः कार्य-कारणभावसंभवान्मनःशब्दवाच्याणिष्ठभागस्य कारणत्वसंभवात्परतत्त्वमुपपद्यते । तर्हि बुद्धिमनसोरेव ग्रहे संभवति भूतसूक्ष्मपर्यन्तधावनं किमर्थमिति चेत्तद्ग्रहस्य तदा-रम्भकभूतसूक्ष्माधीनत्वात्तावत्पर्यन्तधावनमिति भावः । अथवा नन्वर्थेभ्यो मनस आर-म्भकं भूतसूक्ष्मं परं तस्माद्बुद्धचारम्भकं भूतसूक्ष्मं परमिति न युक्तं कार्यापेक्षया हि कारणमुपचितावयवं व्यापकमनपायस्वरूपं परं प्रसिद्धं यथा घटादेर्मृदादिः । न चेह भूतसूक्ष्माणां परस्पर[कार्य]कारणभावे मानमस्ति । सत्यम् । तथाऽपि विषये-न्द्रियव्यवहारस्य मनोधीनत्वात्ततो मनो व्यापकं कल्प्यतेऽस्मिन्प्रकरणे यद्यदधीनं तत्तथापरमितरत्परमिति हि स्थितेः । ननु भाष्ये मनःशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्मं परमिति कथमुक्तमिति चेत्केषांचिन्मन आत्मेति भ्रमस्तन्निरासाय मनसो भौतिकत्वेनानात्मत्वं वक्तुं भूतसूक्ष्ममित्युक्तमेवं बुद्धिस्थलेऽपि द्रष्टव्यम् । तस्य मनसोऽध्यवसायनियम्यत्वा-द्बुद्धिः परा । भूतोपचयापचयाभ्यां मनसो भौतिकत्वेनानात्मत्वं बुद्धेः कारणत्वेनानात्मत्वं द्रष्टव्यम् । ततोऽर्थादिषु भूतसंस्थानेष्वेव परत्वं कल्प्यते परमपुरुषार्थदिदर्शयिषया न त्वर्थादीनां परत्वं प्रतिपिपादयिषितं प्रयोजनाभावाद्वाक्यभेदप्रसङ्गाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । आत्मशब्दस्य परशब्दार्थव्यापकत्वांशेन पौनरुक्त्यमाशङ्क्यापुनरुक्तमर्थमाह—सर्वेति । सुरनगतिर्यगादिबुद्धीनां विधारकत्वात्सातत्यगमनादात्मोच्यत इत्यर्थः । आत्ममहच्छ-ब्दयोः पौनरुक्त्ये सर्वबुद्धिव्यापकताऽऽत्मशब्दार्थः । बुद्धितदितरव्यापकता महच्छ-

व्यर्थ इत्याह—सर्वेति । तत्र हेतुमाह—अव्यक्तादिति । हिरण्यगर्भ तत्त्वमिति । सूत्रसंज्ञितमित्यर्थः । बोधानोघात्मकं ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मकमित्यर्थः ॥ १० ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न

परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं चाव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतमव्याकृतानामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्तिसमाहार-रूपमव्यक्ताव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन समा-श्रितं बटकणिकायामिव बटवृक्षशक्तिः । तस्मादव्यक्तात्परः सूक्ष्मतरः सर्वकारणकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च महांश्च । अत एव पुरुषः सर्व-पुरणात् । ततोऽन्यस्य परस्य प्रसङ्गं निवारयन्माह—पुरुषान्न परं किञ्चिदिति । यस्मान्नास्ति पुरुषाच्चिन्मात्रघनात्परं किञ्चिदपि वस्त्वन्तरं तस्मात्सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्यगात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम् । अत्र हीन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसर्माप्तिः । अत एव च गन्तॄणां सर्वगतिमतां संसारिणां परा प्रकृष्टा गतिः । अद्भुतत्वा न निवर्तन्ति इति स्मृतेः ॥ ११ ॥

आ० टी०—प्रलये सर्वकार्यकारणशक्तीनामवस्थानमभ्युपगन्तव्यं शब्दार्थसंबन्ध-शक्तिलक्षणस्य नित्यत्वनिर्वाहाय । तासां शक्तीनां समाहारो मायातत्त्वं भवति ब्रह्म-णोऽसङ्गत्वादिति शक्तिसमाहाररूपमव्यक्तमित्यर्थः । ‘ तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमानीदेत-स्मिन्खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च ’ ‘ मायां तु प्रकृतिं त्रिगुण्मायिनं तु महेश्वरम् ’ इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं चाव्यक्तम् । तस्य सांख्यामिमत्प्रधानाद्वैलक्षण्यमाह—परमात्मनीति । शक्तित्वेनाद्वितीयत्वाविरोधित्वमाह—बटकणिकायामिवेति । भाविवटवृक्षशक्तिमद्वटबीजं स्वशक्त्या न सद्द्वि[द्वि]तीयं कथ्यते तद्वद्ब्रह्मापि न माया-शक्त्या सद्द्वि[द्वि]तीयम् । सत्त्वादिरूपेण निरूप्यमाणे व्यक्तिस्य नास्तीत्यव्यक्तम् । ततोऽव्यक्तशब्दादप्यद्वैताविरोधित्वं द्रष्टव्यम् । सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारणमव्यक्तम् । तस्य परमात्मपरतन्त्रत्वात्परमात्मन उपचारेण कारणत्वमुच्यते न त्वव्यक्तवद्विकारितयाऽना-दित्वादव्यक्तस्य पारतन्त्र्यं च पृथक्सत्त्वे प्रमाणामावादात्मसत्तयैव सत्तावत्त्वा-च्चेत्यर्थः ॥ ११ ॥

गो० टी०—परमव्यक्तमित्यन्वयः । हिरण्यगर्भतत्त्वमेव सूक्ष्ममतिशयेन सूक्ष्मं सूक्ष्म-तरमव्यक्तं प्रत्यग्वदनपायि सर्वस्माद्व्यापकमित्यर्थः । हिरण्यगर्भद्वैलक्षण्यमाह—सर्वेति ।

१ झ. झ. ट. ‘अक्ष’ । २ क. ख. ज. ‘तमः स’ । ३ घ. ‘णत्वा’ । ४ घ. ‘स्य प्र’ । ५ झ. ङ. ‘न्मात्राच्चिदघना’ । ६ झ. ट. ‘मासम् । अं’ । ७ घ. ‘व. ग’ । ८ क. ख. ज. ‘णां सा प’ ।

आरम्भवादं निराकरोति—अव्याकृतेति । अव्याकृतयोर्नामरूपयोः सत्त्वं स्वरूप-  
मित्यर्थः । ननु सृष्टेः प्रागव्याकृतव्यतिरेकेणाभावात्कथं सर्वेषां कार्याणां कार-  
णानां च शक्तिसमुदायरूपमव्यक्तमिति चेत्प्रलये सर्वशक्तीनामवस्थानं वक्तव्यं  
शब्दार्थसंबन्धस्य शक्तिलक्षणस्य निर्वाहाय तासां च शक्तीनां मायातत्त्वं समाहारो  
भवति ब्रह्मणोऽसङ्गत्वादिति समुदायरूपमव्यक्तमित्यर्थः । तत्र प्रमाणमाह—  
अव्याकृतेति । 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदेतस्मिन्खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च'  
'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धमित्यर्थः । सांख्याभिमतप्रधानाद्वै-  
लक्षण्यमाह—परमात्मनीति । ननु शक्तिरेकाऽऽत्मा चैक इति सद्वितीयत्वापत्ति-  
रित्याशङ्क्याऽऽत्मव्यतिरेकेण तस्या असत्त्वं दृष्टान्तेनाऽऽह वटेति । वटबीज इत्यर्थः ।  
यदर्थं पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरस्य परत्वं प्रतिपादितं तद्वैष्णवपदमवतारयति—तस्मा-  
दित्यादिना । पूर्वोक्तान् । नन्वात्मनः सूक्ष्मतरत्वं वक्तुं शक्यतेऽव्यक्तदपि दुर्विज्ञेय-  
त्वात्कारणत्वरूपपरत्वं कथं कारणत्वे वाऽव्यक्तवद्विकारित्वेनासत्त्वापत्तेरिति चेदधिष्ठा-  
नपरतन्त्रत्वादागेपस्याधिष्ठानस्योपचारेणाऽऽत्मनः कारणत्वमुच्यत इति न दोषः ।  
पारतन्त्र्यं चाव्यक्तस्य पृथक्सत्त्वे प्रमाणाभावादात्मसत्तथैव सत्तावत्त्वाच्चेति भावः ।  
प्रत्यगात्मेति । पूर्वत्र सापेक्षप्रत्यक्त्वमत्र तु स्वाभाविकमेव दिदर्शयिषितं वस्तुत्वा-  
दिति भावः । अत एव निरतिशयमहत्त्वादेवेत्यर्थोऽवधिष्यत इत्याह—तत इति । प्रसङ्गं  
सत्त्वस्येति शेषः । पुरुषात्परं किञ्चित्नेत्यर्थं हेतुकृत्य सेत्यादिवाक्यं व्याचष्टे—यस्मा-  
न्नास्तीत्यादिना । पर्यवसानमुपपादयति—अत्र हीति । आत्मनीत्यर्थः । अत एव  
सूक्ष्मत्वादिपर्यवसानभूमिर्वादेव । प्रकृष्टगतित्वे प्रमाणमाह—यदिति । तद्धाम परमं  
ममेति वाक्यशेषः ॥ ११ ॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते । दृश्यते

त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शीभिः ॥ १२ ॥

ननु गतिश्चेदागत्याऽपि भवितव्यं कथं यस्माद्भूयो न जायत इति ।  
नैष दोषः । सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्युपचर्यते । प्रत्य-  
गात्मत्वं च दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन । यो हि गन्ता सोऽगत-  
मप्रत्यग्रूपं गच्छत्यनात्मभूतं न विपर्ययेण । तथा च श्रुतिः—“अन-  
ध्वगा अध्वसु पार्यिष्णवः” इत्याद्या । तथा च दर्शयति प्रत्य-  
गात्मत्वं सर्वस्य । एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु  
गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादिकर्माऽविद्यामायाछंभोऽत एवाऽऽत्मा न  
प्रकाशत आत्मत्वेन कस्यचित् । अहो अतिगम्भीरा दुरवगाहा

१ ठ. सूक्ष्मतमत्वं । २ क. ख. ज. सोऽयमं । ३ झ. ञ. ट. 'पं पररूपं गं' । ४ क. झ. ञ.  
ट. 'रमीप्सवः' इं । ५ क. 'छम आ' ।

विचित्रा माया चेयं यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णात्यनात्मानं देहेन्द्रियादिसंघातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णाति नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोको बभ्रवीति । तथा च स्मरणम्—“ नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ” इत्यादि । ननु विरुद्धमिदमुच्यते मत्वा धीरो न शोचति न प्रकाशत इति च । नैतदेवम् । असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वाच्च प्रकाशत इत्युक्तम् । दृश्यते तु संस्कृतयाऽग्रयाऽग्रमिवाग्रया तथैकाग्रतयोपेतयेत्येतत्सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तु-निरूपणपरया । कैः । सूक्ष्मदर्शिभिरिन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापारम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत् ॥ १२ ॥

आ० टी०—पारयिष्णव इति । संसारपारं गन्तार इत्यर्थः । न प्रकाशते चेत्तर्हि नास्त्येवेति न वाच्यं छिन्नदर्शनादित्याह । दर्शनश्रवणादीनि कर्माण्यस्येति तथोक्तः । जीवस्य प्रकाशत्वे ब्रह्मात्मत्वे सत्यपि योऽयं ब्रह्मस्वरूपानवभासः स केनापि प्रतिबन्धेन कृत इति कल्प्यते । तच्च प्रतिबन्धकं न वस्तु ज्ञानान्मुक्तिश्रुतेर्बाधप्रसङ्गात् । ततोऽविद्यैव प्रतिबन्धिकेत्याह—अविद्यामायाच्छन्न इति । निदिध्यासनप्रचयेनैकाग्र्य-मापन्नमन्तःकरणं यदा सहकारि संपाद्यते तदा तत्सहकृतान्महावाक्याद्ब्रह्म ब्रह्मास्मीति या बुद्धिवृत्तिरुत्पद्यते तस्यामभिव्यक्तो ब्रह्मभाव इति स्वतोऽपरोक्षतया व्यवहियत इति दृश्यत्वमुपचर्यते । यो हि यत्प्रयुक्तव्यवहारः स तद्दृश्य इति प्रतिद्धम् ॥ १२ ॥

गो० टी०—गतिशब्दस्य यथाश्रुतमर्थं गृहीत्वा शङ्कते—नन्विति । परिहरति—नैष दोष इति । प्रत्यग्भिन्नस्य हि गत्याऽवाप्तिर्मुख्या तस्य तूपचारेणेत्यत्र पूर्वोक्तं हेतुमाह—प्रत्यगात्मत्वं चेति । तर्हि प्रतीचः प्राप्तत्वेन ज्ञानादिवैधर्म्यमित्याशङ्क्या-विद्ययाऽनात्मरूपमापन्नो यः सोऽधिकारी तं प्रत्यगात्मानमनात्मव्युदासेन प्राप्नोती-त्याह—यो हीति । हिशब्दसूचितां श्रुतिमाह—तथा चेति । अनध्वगा मार्गर-हिताः । पारयिष्णवः संसारपारं गन्तार इत्यर्थः । गतेरौपचारिकत्वे सर्वस्य प्रत्य-गात्मत्वं श्रुतिर्दर्शयतीत्यवतारयति—तथा चेति । संवृतो न प्रकाशत इत्यन्वयः । न प्रकाशते चेत्तर्हि नास्त्येवेति न वाच्यं छिन्नदर्शनदित्याह—दर्शनेति । दर्शन-श्रवणादीनि कर्माण्यस्येति तथा । ननु जीवस्य प्रकाशे ब्रह्मात्मत्वे कुनोऽनवभासस्त-

१ ग. 'ह्लाति नूनं । २ क. ख. ज. 'कोऽयं वं' । ३ ख. ज. 'रति ना' । ४ क. 'द्धमित्युच्यं' । ५ झ. अ. ट. 'ते त्वग्न्यया संस्कृतयाऽग्न्यं' । ६ झ. अ. ट. 'ण सर्वविशेषसू' ।

त्राऽऽह—अविद्यामायाच्छब्द इति । अविद्येति ज्ञाननिरस्यत्वमुच्यते । मायेति मिथ्यात्वमुच्यते । अत एव यतश्छन्नः कस्यचिदप्यात्माऽऽभत्वेन न प्रकाशतेऽहं पर एवेति व्यवहारयोग्यो न भवतीत्यर्थः । एष इत्यादिश्रुतेरक्षरार्थमुक्त्वा प्राणिष्वनुकम्पां दर्शयन्श्रुतेस्तात्पर्यार्थमाह—\* अत इति । यतः स्वप्रकाशप्रत्यक्चैतन्यावरिकाऽविद्याऽतोऽतिगम्भीरा नकादिसंवल्लिनगङ्गाहृद् इवाविमर्शनीयस्वरूपा यत एवमनो दुरवगह्या मायायां स्थित्वा मायाकृता विभूतिरियतीति निर्धारयितुं न शक्यते केनचिदतः सा । एवंभूतमामायाः सविद्यासकत्वं प्रदर्श्य स्वरूपावरकत्वे हेतुमाह—विचित्रा चेति । इयमहमज्ञ इत्यनुभवासेद्धा नानाशक्तियुक्ताऽघटनपटनापटीयसी । तत्र हेतुमाह—यदिति । यस्मादित्यर्थः । अयं संसरन्दृश्यमानः सर्वप्राणी वस्तुतः परमार्थस्वरूपोऽप्येवं बोध्यमानः पर एवाऽऽत्मा नास्ति संसारीत्यहं पर एवाऽऽत्मेति न गृह्णानि, घटादिवदात्मनो दृश्यमानमपि देहेन्द्रियादिसंघातमनात्मानं त्वं देवदत्तपुत्रो विष्णुमित्र इत्यनुच्यमानोऽप्यनुपदिश्यमानोऽप्यहममुष्य पुत्र इत्यात्मत्वेन गृह्णातीत्यन्वयः । स्वस्वरूपमखण्डाद्वितीयमुच्यमानमपि न गृह्णातीत्यनुक्तमप्यनात्मस्वरूपमात्मत्वेन गृह्णातीत्यत्र को हेतुरिति विचार इदं निश्चितमित्याह—नूनमिति । मोह्यमानः पुनः पुनरतिशयेन वा मोहमापद्यमानो बभ्रवीति पुनः पुनरतिशयेन भ्रमतीत्यर्थः । मायाधीनमोहादात्माप्रकाशे संसरणे च भगवतः स्मरणं प्रमाणयति—तथा चेति । योगमायाऽसमावृत इति वाक्यशेषः । चोद्योत्तरवाक्यं व्याचष्टे—नन्विद्यादिना । एतद्विरुद्धत्वमेवं त्वदुक्तप्रकारेण न भवति श्रुत्योर्विषयभेदात् । न प्रकाशत इत्यस्यार्थं दर्शयति—असंस्कृतेति । निदिध्यासनप्रचयजन्यसंस्काररहिताया बुद्धेरित्यर्थः । मत्वा धीरो न शोचतीत्यस्याऽऽशयं श्रुतिः स्वयमेव दर्शयति—दृश्यते त्विति । संस्कृतया निदिध्यासनप्रचयजन्यसंस्कारयुक्तया । एकं ब्रह्मात्मैक्यमग्रं मुख्यं लक्ष्यं यस्यास्तस्या भाव एकाग्रता तथा सहितयेत्येतत् सूक्ष्मं दुर्बलेयं घस्तु ब्रह्मात्मैक्यं तस्य निरूपणे निश्चये तात्पर्यवत्या । कर्तृपदमाकाङ्क्षापूर्वकं व्याचष्टे—कैरिति । सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैः सूक्ष्मयाऽग्रया बुद्ध्याऽऽत्मा दृश्यत इति योजना ॥ १२ ॥

तत्प्रतिपत्त्युपायमाह—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तयच्छेज्ज्ञान आत्मानि । ज्ञान-  
मात्मानि महति नियच्छेत्तयच्छेच्छान्त आत्मानि ॥ १३ ॥

\* भाष्येऽहो इत्यस्य स्थाने, अत इतिपाठानुरोधेनेदमिति भासि । एतदनुरोधेन तथा पाठो भाष्ये स्यादित्यनुमेयं भाष्यानुरोधेनात्र वा तथा पाठः कल्प्यः ।



यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेत्प्राज्ञो विवेकी । किम् । वाग्वाचम् । वागत्रोप-  
लक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम् । कं । मनसी मनसीति च्छान्दसं दै-  
र्घ्यम् । तच्च मनो यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्धावात्मनि । बुद्धिर्हि मन-  
आदिकरणान्याप्नोतीत्यात्मा प्रत्यक्तेशाम् । ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति  
प्रथमजे नियच्छेत् । प्रथमजं त्वत्स्वच्छस्वभावकमात्मनो विज्ञानमापादये-  
दित्यर्थः । तं च महान्तमात्मानं यच्छेच्छान्ते सर्वविशेषप्रत्यस्तमितरूपेऽ-  
विक्रये सर्वान्तरे सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्य आत्मनि ॥ १३ ॥

आ० टी०—॥ १३ ॥

गो० टी०—ब्रह्मज्ञानसाधनत्वेनोत्तरं वाक्यं व्याचष्टे—तदिति । तस्याऽऽत्मनः  
प्राप्तिस्तत्साधनीभूतं ज्ञानं तदुपायमित्यर्थः । ननुपसंहारेऽपि वाच इतरेन्द्रियाणां सव्या-  
पाराणामनुपसंहारे तन्मात्रं न ज्ञानसाधनमित्याशङ्क्याऽऽह — वागत्रोपलक्षणार्थेति ।  
आकाङ्क्षापूर्वकमाधिकरणं निर्दिशति—केति । दैर्घ्यस्य गतिमाह—मनसीतीति ।  
संकरपविकल्पात्मकमनसो बुद्धितन्त्रत्वात्तस्य तस्यां लयस्य कर्तव्यतया प्रकाशसामान्यं  
ज्ञानशब्देन मनआदिकरणव्याप्त्या तेषां प्रत्यगात्मा बुद्धिस्तच्छब्देनोच्यत इत्याह—  
ज्ञान इत्यादिना । हि यस्मादर्थे । नन्वात्ममहच्छब्दाभ्यां व्यापकप्रत्यगात्मनोऽभि-  
धानात्कथं प्रथमजे हिरण्यगर्भे बुद्धौ व्यष्टिबुद्धेः प्रविलापनमित्याशङ्क्य तदुत्तरपर्याये  
शान्त आत्मेति विशेषणात्प्रत्यस्तमितसर्वविशेषणवत्येतस्य लयप्रतिपादनात्तस्य ग्रहणं  
न विरुध्यते । न च व्यष्टिबुद्धेः समष्टौ लयश्चेत्तस्याः परमकारणे लयो वाच्यस्त-  
द्विना ? निर्विशेषे लयः कथमिति वाच्यम् , आत्ममहच्छब्दाभ्यां सकारणसूत्र-  
हिरण्यगर्भबुद्धेर्ग्रहणं दोष इति भावः । समष्टिव्यष्टयोः साम्ये लयनिमित्तमाह—  
स्वच्छेति । स्वच्छस्वभावकं प्रथमजं विज्ञानं प्रत्यगात्मोपाधिभूतविज्ञानमापादयेदि-  
त्यर्थः । सर्वेति । सर्वे विशेषाः प्रत्यस्तमिता लीना यस्मिंस्तत्तच्च तद्रूपं च तस्मिन् ।  
तत्र हेतुः—अविक्रिय इति । एवमुत्तरोत्तरं हेतुत्वेन व्याख्येयम् । मुख्य आत्मनि  
तं यच्छेदित्यन्वयः ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत । क्षुरस्य धारा  
निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

१ क. ख. ज. सर्वेन्द्रि० । २ झ. म. ट. क. मनसि । छ। ३ क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. ठ.  
मसि । छन्द० । ४ झ. ज. ट. दीर्घम् । ५ ख. ग. घ. ङ. च. आदीनि क० । ६ क. ख. ज. त्मा  
तेषां प्रत्यक् । शा० । ७ झ. ज. ट. जत्वात्स्व० । ८ क. ख. ज. वमा० । ९ क. ज. ट. तस्वरु० ।

एवं पुरुष आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्याज्ञानवि-  
जृम्भितं क्रियाकारकफललक्षणं स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन मरीच्युदकरज्जु-  
सर्पगगनमलानीव मरीचिरज्जुगगनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तात्मा  
कृतकृत्यो भवति यतोऽतस्तद्दर्शनार्थमनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत हे जन्तव  
आत्मज्ञानाभिमुखा भवत, जाग्रताज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थ-  
बीजभूतायाः क्षयं कुरुत । कथम् । प्राप्योपगम्य वरान्प्रकृष्टानाचार्या-  
स्तद्विदस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति निबोधतावगच्छत । न  
ह्युपेक्षितव्यमिति श्रुतिरनुकम्पयाऽऽह मातृवंत् । अतिसूक्ष्मबुद्धिविषयत्वा-  
ज्ज्ञेयस्य किमिव सूक्ष्मबुद्धिरित्युच्यते । क्षुरस्य धाराऽग्रं निशिता तीक्ष्णी-  
कृता दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्याः सा दुरत्यया । यथा सा पद्भ्यां  
दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसंपाद्यमित्येतत्पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं  
मार्गं कवयो मेघाविनो वदन्ति । ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तद्विषयस्य ज्ञान-  
मार्गस्य दुःसंपाद्यत्वं वदन्तीत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

आ० टी०—क्रमणैवं विषयदोषदर्शनेनाभ्यासेन च बाह्यकरणान्तःकरणव्यापारप्र-  
विलापने सति प्रविलापनं कर्तुः कः पुरुषार्थः सिध्यतीत्यत आह—एवं पुरुष  
इत्यादिना ॥ १४ ॥

गो० टी०—विषयदोषदर्शनेन बाह्यान्तःकरणव्यापारप्रविलापने तत्कर्तृकः कः  
पुरुषार्थः सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—एवं पुरुष इत्यादिना । एवं यच्छेदित्यादिक्रमेण  
प्रत्यगात्मस्वरूपसाक्षात्कारेण समस्तं प्रकर्षेण विलाप्य कृतकृत्यो भवतीत्यन्वयः ।  
आत्मव्यावृत्त्यर्थं सर्वं विशिनष्टि—नामेति । शब्दार्थक्रियात्रयमित्यर्थः । तस्य सत्यत्वं  
व्यावर्तयति—यदिति । मिथ्या च तदज्ञानं च मिथ्याज्ञानं तेन विजृम्भितं निष्पादितं  
यत्तत्सर्वमित्यन्वयः । ज्ञानफलं न कर्मसाध्यमिति ज्ञापयितुं कर्मफलं संसारान्तर्गमे-  
वेति दर्शयति— क्रियेति । सम्यग्ज्ञानेन सर्वविलापने कृतकृत्यतेत्यत्र दृष्टान्तमाह—  
मरीचीति । मरीच्यादिदर्शनेन तदुदकादि प्रविलाप्य लौकिकः पुमान्यथा स्वस्थ-  
स्तथा स्वस्थः सर्वबह्येन्द्रियव्यापाररहितः प्रशान्त आत्मान्तःकरणं यस्य सर्वमनो-  
व्यापाररहितः प्रशान्ता मा कर्तव्याभावात्कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । उक्तमर्थं हेतुकृत्यो-  
त्तरं वाक्यमवतारयति—यतोऽत इति । तद्दर्शनार्थं कृतकृत्यताहेतुदर्शनार्थम् ।  
अनाद्यविद्यायां प्रसुप्तास्तत्तन्त्राः । आत्मज्ञानाभिमुखा इति । ईश्वरार्पितकर्मतश्चित्त-

१ झ. अ. ट. 'नेनेव । २ क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. ट. 'शान्तः कृत' । ३ घ. 'नप्रायाः  
स' । ४ घ. च. 'स्तत्त्वविद' । ५ घ. ज. झ. ञ. 'वदिति । अ' । ६ क. ख. ज. 'स्वद्विज्ञेय' । ७ ङ.  
च. 'दुःखसं' ।

शुद्धि विविदिषाक्रमेण श्रवणादिपरा इत्यर्थः । घोरो दुःखबहुबलः संसारदात्रोः रूपं यस्याः सा । तस्या घोररूपत्वं विवृणोति—सर्वेति । क्षयं कुरुत साक्षात्कारेणेति शेषः । तत्साक्षात्कार आचार्यार्थान इत्याकाङ्क्षापूर्वकं दर्शयति—कथमित्यादिना । तेषां वरत्वं व्याचष्टे—तद्विद इति । निबोधतेत्यस्यापोक्षितं कर्म पूरयति—तदित्यादिना । अक्षरार्थमुक्त्वा तात्पर्यार्थमाह—न हीति । तदुपेक्षणेऽनर्थप्राप्तिसूचको हिशब्दः । इतिर्वक्ष्यमाणप्रकारार्थः । आदरेण श्रुत्यभिधाने हेतुः—अतिसूक्ष्मेति । आकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यं व्याचष्टे—किमिवेति । तीक्ष्णकृता पाषाणादिति शेषः । पदार्थमुक्त्वा विवक्षितं वाक्यार्थमाह—यथेति । छान्दसत्वाद्ब्रह्मचरव्यत्यय इत्याह—पन्थानमिति । ननु वस्तुनः सुज्ञेयत्वे ज्ञानस्यापि तथात्वाद्दुर्गमत्वमसिद्धमियाशङ्क्य कवयो वदन्तीत्यस्य तात्पर्यार्थमाह—ज्ञेयस्येति ॥ १४ ॥

तत्कथमितिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्येत्युच्यते । स्थूला तावदियं मेदिनी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता तथा शरीरम् । तत्रैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां सूक्ष्मत्वमहत्त्वविशुद्धत्वनित्यत्वादितारतम्यं दृष्टपदादिषु यावदाकाशमिति ते गन्धादयः सर्व एव स्थूलत्वादिकाराः शब्दान्ता यत्र न सन्ति किमु तस्य सूक्ष्मत्वादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यमित्येतद्दर्शयति श्रुतिः—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च  
यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृ-  
त्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । एतद्व्यख्यातं ब्रह्माव्ययम् । यदि शब्दादिमत्तद्व्येतीदं त्वशब्दादिमत्त्वादव्ययं न व्येति न क्षीयते, अत एव च नित्यं यदि व्येति तदनित्यमिदं तु न व्येत्वतो नित्यम् । इतश्च नित्यमनाद्यविमानं आदिः कारणमस्य तदिदमनादि । यद्दयादिमत्तत्कार्यत्वादित्यं कारणे प्रलीयते यथा पृथिव्यादि । इदं तु सर्वकारणत्वादकार्यमकार्यत्वान्नित्यं न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयते । तथाऽनन्तमविद्यमानोऽन्तः कार्यमस्य तदनन्तम् । यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेनाप्यनित्यत्वं

१ घ. 'थमिति सू' । २ ग. घ. च. 'व नि' । ३ झ. ञ. ट. 'नमादि का' । ४ ग. च. रणं यस्य । ५ क. ख. ङ. ज. ठ. यच्चाऽऽदि' । ग. घ. यश्चचाऽऽदि' । ६ क. ख. 'नन्तं नित्यम्' ।

दृष्टं न च तथाऽप्यन्तवत्त्वं ब्रह्मणोऽतोऽपि नित्यम् । महतो महत्तत्त्वा-  
द्बुद्ध्याख्यात्परं विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपत्वात्सर्वसोक्षिं हि सर्वभू-  
तात्मत्वाद्ब्रह्म । उक्तं ह्येष सर्वेषु भूतेष्वित्यादि । ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं  
न पृथिव्यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम् । तदेवंभूतं ब्रह्मात्मानं निर्वाच्या-  
वगम्य तमात्मानं मृत्युमुखांन्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते  
वियुज्यते ॥ १५ ॥

आ० टी०—यावद्यावद्गुणापचयस्तावत्तावत्तारतम्येन सौक्ष्म्यं दृष्टं पृथिव्यादिषु  
परमात्मनि तु गुणानामत्यन्ताभावान्निरतिशयं सौक्ष्म्यं दृष्टं सिध्यतीत्याह—स्थूला ताव-  
दित्यादिना ॥ १५ ॥

गो० टी०—तदेवामिद्धमित्याशङ्कते—कथमिति । स्थूलसूक्ष्मतारतम्यविश्रान्ति-  
स्थानत्वादतिसूक्ष्मं ज्ञेयं ब्रह्मेत्याह—उच्यत इति । यावद्यावद्गुणापचयस्तावत्तावत्तार-  
तम्येन सौक्ष्म्यं पृथिव्यादिषु दृष्टं परमात्मनि गुणानामत्यन्तमभावान्निरतिशयं सौक्ष्म्यं  
सिध्यतीति पृथिव्यादिषु तारतम्येन सौक्ष्म्यमुपपादयति—स्थूलेत्यादिना । शब्दादि-  
रूपेण वृद्धौ हेतुमाह—सर्वेति । पृथिव्युक्तं न्यायं पार्थिवे शरीरेऽतिदेशनि—  
तथेति । तत्र पृथिवीतच्छरीरयोरपकर्षेऽ(र्षोऽ)पगमेऽ(मोऽ)वदिषु सूक्ष्मत्वादितार-  
तम्यं दृष्टमित्यन्वयः । तारतम्यदृष्टाववधिमाह—यावदाकाशमिति । यावच्छब्दोऽ-  
पि व्याप्तौ । आत्मनो निरातिशयं सूक्ष्मत्वादि कैमतिकन्यायेनोपपादयति—त इति । ते  
गन्धादयः शब्दान्ताः \* स्थूलत्वादिकारणाः स्थूलत्वसूक्ष्मत्वसूक्ष्मतरत्वसूक्ष्मतमत्वादिका-  
रणा ज्ञापकाः सर्व एव यत्र न सन्ति प्रतीचि तस्य सूक्ष्मत्वादेर्निरतिशयत्वं किमु वक्त-  
व्यमित्यन्वयः । उक्तेऽर्थे श्रुतिं योजयति—इत्येतादिति । शब्दादिराहित्यमव्ययत्वेऽ-  
व्ययत्वं नित्यत्वे हेतुरिति पाठक्रममविवक्षित्वाऽऽह—यद्गीति । नित्यत्वे हेत्वन्तर-  
माह—इत्येति । उक्तमर्थमुपपादयति—यद्गीति । नन्वात्मनोऽपि लयोऽस्ति कार-  
णसंसर्गलक्षण इत्याशङ्क्य न तस्य कार्यं क(का)रणं च विद्यत इति श्रुत्यन्तरान्न कारणे  
लय इत्याह—न तस्येति । स्वतो लयाभावेऽपि कार्यद्वारा लयमाशङ्क्याऽऽह—  
तथेति । कार्यद्वारा नाशे दृष्टान्तमाह—यथेति । फलितं दर्शयति—अतोऽपीति ।  
विलक्षणत्वे हेतुमाह—नित्येति । तच्च नास्तीति वक्तुं न शक्यत इत्याह—सर्वभू-  
तेति । न ह्यात्मनः प्रतिषेधः संभवतीति भावः । ब्रह्मानिरतिशयमहदित्यर्थः । उक्तेऽ-

\* भाष्ये स्थूलत्वादिकारणा इत्यत्र स्थूलत्वादिकारणा इति पाठानुरोधेनेदम् । भाष्य एतदनुरोधी  
पाठः कल्पनीयः ।

१ ग. घ. च. 'सिद्ध' । २ झ. ञ. 'साक्षी हि' । ३ च. ट. 'क्षि स' । ४ झ. ञ. ट. 'चाप्य  
दृष्ट्वाऽव' ।

र्थे श्रुतिं प्रमाणयति—उक्तं हीति । तच्च न पृथिव्यादिवत्परिणामि नित्यमित्य  
धुबमिति । एवं ब्रह्मात्मनोऽतिसूक्ष्मत्वेन दुर्विज्ञेयत्वात्तज्ज्ञानस्यापि दुःसंपाद्यताम्  
ब्रह्मात्मज्ञानं सफलमुपसंहरति—तमित्यादिना ॥ १५ ॥

अस्तुत्विज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः—

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।

उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६

नाचिकेतं नचिकेतसां प्राप्तं नाचिकेतं मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तां  
देवमाख्यानमुपाख्यानं ब्रह्मात्रयलक्षणं सनातनं चिरंतनं वैदिकत्वादुक्तं  
ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वाऽऽचार्येभ्यो मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्त्वसिं  
न्महीयत आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

आ० टी०—॥ १६ ॥

गो० टी०— ननु विज्ञानस्य सफलस्योक्तत्वादुत्तरग्रन्थः किमित्याह—  
तेति । प्रकृतब्रह्मात्माविज्ञानसाधनस्तुत्यर्थमाख्यायिकामाह श्रुतिगित्यर्थः । चिरं  
हेतुमाह—वैदिकत्वादिति । षष्ठीसमासभ्रमं व्यावर्तयति—ब्रह्मैवेति । वाक्यार्थो  
आत्मेति ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि । प्रयतः

श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदान-

न्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेद् ग्रन्थतोऽर्थं  
ब्राह्मणानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा आ  
येद्ब्रह्मज्ञानानां तच्छ्राद्धमेस्याऽऽनन्त्यायानन्तफलाय कल्पते संपद्यते  
द्विर्वचनमध्यार्थपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १७ ॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ ३

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादाशिष्य-

श्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये

प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

१ च. 'दमु' । २ क. 'नम्, व' । ३ क. ख. ग. 'स्मिन्ब्रह्मलोके मही' । ४ ग. घ.  
'श्राद्ध' । ५ क. ख. घ. 'मप्यान' । ६ गु. घ. क. 'ते समर्थते' । ७ क. समर्थते । ८ घ.  
स. ग. 'यस' ।

आ० टी०—॥ १७ ॥

इति काठकोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते  
काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

गो० टी०— प्रयत इत्युभयप्रान्वेति । अनन्तफलाय क्रमेणेति शेषः ॥ १७ ॥

इति प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीमद्बालगोपसेन्द्रयतीश्वरविरचिते काठकोप-  
निषद्भाष्यविवरणे प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते दृश्यते त्वष्टयया बुद्ध्येत्यु-  
क्तम् । कः पुनः प्रतिबन्धोऽदृश्याया बुद्धेर्येन तैर्देभावादात्मा न दृश्यत  
इति तैर्दर्शनकारणप्रदर्शनार्था बल्लयारभ्यते । विज्ञाते हि श्रेयःप्रतिबन्ध-  
कारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धुं शक्यते नान्यथेति—

पराश्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्परा रूप-  
श्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान-  
मैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

पराश्चि परागच्छन्ति गच्छन्तीति खानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनी-  
न्द्रियाणि खानीत्युच्यन्ते । तानि पराञ्च्येष शब्दादिविषयप्रकाशनाय  
प्रवर्तन्ते । यस्मादेवं<sup>x</sup>स्वाभाविकानि तानि व्यतृणद्धिसितवान्हननं कृत-  
वानित्यर्थः । कोऽसौ । स्वयंभूः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति  
सर्वदा न परतन्त्र इति । तस्मात्परां रूपराग्रूपाननात्मभूताब्जब्दादीन्श-  
त्युपलभत उपलब्धा नान्तरात्मन्नान्तरात्मानमित्यर्थः । एवंस्वभावेऽपि  
सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः प्रतिस्त्रोतः प्रवर्तनमिव घीरो घीमान्निबेकी

<sup>x</sup> एवंस्वभावकानीति पाठो युक्तः । टीकायां तस्यैव गृहीतत्वात् ।

१ क. तद्भावा° । २ क. झ. डा. ट. 'दभिभवा°' । ३ ख. ग. घ. ङ. च ज ठ. तददर्श° ।  
४ क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. ठ. 'निष्कोप°' । ५ क. झ. ट. 'वान् कोऽ' । ६ क. ख. 'भूः, यः  
प° । ज. 'भूः, स्व°' । ७ क. 'राहूप्रत्यग्र°' । ८ घ. 'त. इत्युप°' । ९ झ. डा. ट. 'स्मन्नन्°' । १० क.  
ड. 'ति श्रोतः ।

प्रत्यगात्मानं प्रत्यक्चासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा । प्रतीच्येवाऽऽत्मा  
शब्दो रूढो लोके नान्यास्मिन् । व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तत्रैवाऽऽत्मशब्दो  
वर्तते ।

यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।

यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥

इत्यात्मशब्दव्युत्पत्तिस्परणात् । तं प्रत्यगात्मानं स्वं स्वभावमैक्षद  
इत्यपश्यतीत्यर्थः । छन्दसि कालानियमात् । कथं पश्यतीत्युच्यते—आ  
त्तचक्षुरावृत्तं व्यावृत्तं चक्षुः श्रोत्रादिकामिन्द्रियजातमशेषविषयाद्यस्य  
आवृत्तचक्षुः । स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति । न हि बाह्या  
षयालोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य संभवति । किपर्यं पुनरिति  
महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्तिनिरोधं कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यति  
त्युच्यते—अमृतत्वमपरणधर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन्नात्मन इत्यर्थः ।

आ० टी०—अनादिरविद्याप्रतिबन्धः प्रागुक्तोऽधुनाऽऽगन्तुकप्रतिबन्धदर्शन  
त्तरवल्लुघारम्भ इति संबन्धमाह—एष सर्वेष्वित्यादिना । यदीन्द्रियाण्यन्तर्मुख  
(णि) स्युस्तदा तान्यात्मनिष्ठतयाऽमृतत्वमीयुरत इन्द्रियाणि बहिर्मुखानि(णि) सृष्ट्या  
यत्तत्तेषां हननमेव कृतमित्यर्थः । आप्लुष्यासाविति धास्वर्थानुसारेण व्यापक उ  
च्यते । यद्यस्मादादत्ते संहरति स्वात्मन्येव सर्वमिति जगदुपादानं लभ्यते वि  
नतीन्दात्मेति व्युत्पत्त्या स्वैतन्याभासेनोपलब्धत्वमात्मशब्दार्थः । येन कार  
स्याऽऽत्मनः संततो निरन्तरो भावः कल्पित[स्त]स्याधिष्ठानसत्तामन्तरेण सत्ताभाव  
रज्ज्वामध्यस्ते सर्पे रज्ज्वाः सातत्यं तथा कल्पितं सर्वं येन स्वस्वरूपवत्स उ  
च्यते ॥ १ ॥

गो० टी०—अनाद्यविद्याप्रतिबन्धः प्रागुक्तोऽधुनाऽऽगन्तुकप्रतिबन्धः । काशन  
त्तरवल्लुघारम्भ इति संबन्धमाह—एष इति । इत्युक्तमनेन वाक्येनानाद्यविद्या  
बन्धस्वरूपमिति शेषः । कः पुनरिति । पुनः कीदृशोऽनाद्यविद्याया अन्यः  
बन्धः, यस्य प्रतिबन्धस्य कादाचित्कस्याभावादात्माऽऽयया बुद्ध्या दृश्यते स  
बन्धोऽय्याया बुद्धेः कः कीदृशः किंस्वरूपः किंकार्यक इत्यर्थः । इत्येवमाकाङ्क्ष  
तद्दर्शयति—तद्दर्शनेति । कादाचित्कप्रतिबन्धस्य दर्शनं ज्ञानं तस्य कारणं  
निमित्तं तस्य प्रदर्शनायेत्यर्थः । कादाचित्कप्रतिबन्धश्चाध्यास इति भावः । ननु प्र  
बन्धकतन्निमित्तनिरूपणमनर्थकं निवर्तकोपदेशात्तन्निवृत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—विज्ञातः

१ अ. म. ट. 'ते तदुक्तं य' । २ घ. कीर्तितः । ३ क. ख. ज. 'न स्वस्व' । ४ घ.  
ख' । ५ क. ख. ज. 'वतीति ।

हि यस्माद्ध्यासानिमित्ते सम्यग्ज्ञाते निमित्तस्य निवृत्तये यत्न आस्थातुं शक्यत इत्यर्थः । नान्यथेत्यनन्तरं तस्माद्ध्यासानिमित्तनिरूपणमुचितमिति शेषः । अक्षराणि व्याचष्टे—पराञ्चीत्यादिना । स्वशब्दशेषात्तत्रोत्रभेदशङ्कां वारयति—वदिति । खोपलक्षितानीत्यर्थः । खोपलक्षितानीत्यपि पाठः । तेषां परावत्त्वं विवृणोति—तानीति । पराञ्चयेव पराग्विषयप्रकाशनसमर्थान्येवेत्यर्थः । फलमाह—शब्दादीति । एवंस्वभावकानि पराग्विषयाभिमुख[त्वा]स्वभावानि तानीन्द्रियाणि । हननं कृतवानिति कथम् । तेषां हननं नाशो नष्टानां च न विषयोपनयनद्वाराऽनर्थहेतुतेति चेद्यदेवेन्द्रियाण्यन्तर्मुखनि(णि) स्युस्तदा तान्यात्मनिष्ठतयाऽमृतत्वसाधनानीत्यत इन्द्रियाणि बहिर्मुखानि(णि) सृष्टानीति यत्तत्रेषां हननमेव कृतमिति भावः । कर्तृपदमाकाङ्क्षापूर्वकं व्याचष्टे—कोऽसाविति । हिरण्यगर्भशङ्कां प्रकरणेन वारयति—परमेश्वर इति । स्वयं भवति प्रमथतीति योगवृत्तिमर्थतस्तस्मिन्दर्शयति—स्वयमेवेति । एवकारव्यावर्त्यं दर्शयति—नेति । तस्मादिति । यस्मात्खानि पराञ्चि व्यतृणत्तस्मादित्यर्थः । उपलब्धोऽलभत इन्द्रियैरिति शेषः । विभक्तिलोपश्छान्दस इत्याह—तेत्यादिना । नन्विन्द्रियाणां प्रत्यक्भावण्याभावादात्मदर्शनमेव न मृग्यमधिकार्यभावादित्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । अनात्मभूतशब्दादिविषयोपलब्धृत्वमावत्त्वेऽपीत्यर्थः । कश्चिदित्यधिकारिदौर्लभ्यं द्योतयति । यथा कश्चित्कार्वाकीर्णदिर्नद्या नर्मदादिरूपायाः प्रसिद्धोत्पत्तिर्न करेति, एवमनेकजन्मसंसिद्ध इन्द्रियप्रवृत्तिर्न प्रसिद्धोत्पत्तिर्न कृत्वा गुरुमुपगतो विवेकी तत्त्वं पदार्थविवेकान्प्रत्यगात्मानं स्वं स्वभावं पश्यतीति संबन्धः । प्रत्यगात्मपदं व्याचष्टे—प्रत्यक्चेति । नन्वात्मशब्दवाच्यः प्रत्यग्देहादिरपि भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—प्रतीच्येवेति । अन्यस्मिन्देहादावात्मशब्दप्रयोगस्तु तादात्म्याभिमानादिति भावः । यैगिकी वृत्तिस्तत्रैवेत्याह—द्युत्पत्तीति । तत्रैव प्रत्यगात्मन्येव । आप्लव व्याप्ताविति धात्वर्थानुगमादात्मा व्यापक इत्याह—यच्चाऽऽप्नोतीति । यच्छब्दाः सर्वे यस्मादर्थे द्रष्टव्याः । आदत्ते संहरति स्वात्मन्येव सर्वमिति लयाधिष्ठानमुच्यते । कार्यस्य च कारणे लय इत्यात्मनोऽनया व्युत्पत्त्योपादानकारणत्वं लभ्यते । इह लोके । विषयानतीत्यनेन द्रोणेनोपलब्धृत्वमात्मनो लभ्यते । अस्य जगतः संततो निरन्तरो भावः सत्ता येनाधिष्ठानसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यवादारोपितस्य रजतस्येव तस्मादात्मेत्याधिष्ठानत्वं लभ्यते । नन्वपश्यदिति भूतकालनिर्देशान्नधुनातनानां दर्शनमित्याशङ्क्याऽऽह—पश्यतीति । कथं भूतलकारो वर्तमानार्थक इति तत्राऽऽह—छन्दसीति । दर्शनपकारमाकाङ्क्षापूर्वकं दर्शयति—कथमित्यादिना । चक्षुर्ग्रहणमुपलक्षणमित्याह—श्रोत्रादिकामिति । व्यावृत्तत्वं कस्मादित्याकाङ्क्षायामपेक्षितं पूरयति—अशेषेति । सोऽधिकारी, एवं संस्कृतो विषयेभ्य इन्द्रियनियमनसंस्कारसंस्कृतान्तकरण इत्यर्थः । ननु बाह्येषु विष-



येषु शोभनाध्यासरूपालोचनपरस्यापि तत्त्वमसीति वांक्यादात्मक्षणं सेत्स्यतीत्याश-  
ङ्क्याऽऽह—न हीति । ननु विषयालोचनपरस्यापरोक्षभ्रमनिवर्तकज्ञानानुदयेऽपि तन्नि-  
यमनसंस्कृतस्योत्पन्नमपि ज्ञानं व्यर्थमित्याशङ्कते—किमर्थं पुनरिति । परिहरति—  
उच्यते इति । अमरणधर्मत्वं मरणादिसंसाराभावोपलक्षितस्वरूपत्वमत एव नित्यस्व-  
भावत्वमात्मन इच्छन्नित्यन्वयः ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य  
पाशाम् । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह  
न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

यत्तावत्स्वाभाविकं परागेवानात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्रतिबन्धका-  
रणमविद्या तत्प्रतिकूलत्वाद्या च पराक्षेवाविद्योपपदार्थितेषु दृष्टादृष्टेषु  
भोगेषु तृष्णा ताभ्यामविद्यातृष्णाभ्यां प्रतिबद्धात्मदर्शनाः पराचो बाहे-  
र्गतानेव कामान्काम्यान्विषयाननुयन्ति अनुगच्छन्ति बाला अल्पमज्ञास्ते  
तेन कारणेन मृत्योरविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य  
विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पार्श्वेते बध्यते येन तं पाशं देहेन्द्रि-  
यादिसंयोगवियोगलक्षणम् । अनर्धरतजन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थव्रातं  
प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । यत एवमथ तस्माद्धीरा विवेकिनः प्रत्यगात्म-  
स्वरूपावस्थानलक्षणममृतत्वं ध्रुवं विदित्वा । देवाद्यममृतत्वं ह्यध्रुवमिदं  
तु प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं न कर्मणा वर्धते नो कनीयानात  
ध्रुवम् । तदेवंभूतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं विदित्वाऽध्रुवेषु सर्वपदार्थ-  
ष्वनित्येषु निर्धार्य ब्राह्मणा इह संसारेऽनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किञ्चि-  
दपि प्रत्यगात्मदर्शनप्रतिकूलत्वात् । पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्ये-  
वेत्यर्थः ॥ २ ॥

आ० टी०—॥ २ ॥

गो० टी०—पराचः कामानिति व्याख्यातुं मूमिकामारचयति—यदिति । स्वामा-  
धिकं शास्त्रानपेक्षम् । परागेवेत्यस्य व्याख्याऽनात्मदर्शनमिति । प्रतिबन्धस्य दुर-

१ झ. 'शङ्कयते' । २ छ. झ. म. ट. 'अतो धी' । ३ घ. 'गेवाऽऽत्म' । ४ घ. ङ. झ. म. ट.  
'रणं तं' । ५ ख. ङ. च. ज. 'पद' । ६ घ. 'दृष्टभो' । ७ च. झ. म. ट. 'स्तेन' । ८ झ. म.  
ट. 'श्यन्ते बध्यन्ते ये' । ९ क. ख. ग. घ. ङ. च. छ. ज. म. ट. ठ. 'रतं ज' । १० घ. 'मतस्त-  
स्मा' । ११ ख. ङ. ज. झ. म. 'त्मनः स्व' । १२ घ. ङ. 'नम' । १३ क. ख. ज. 'णं ध्रुवं न ।  
१४ क. ख. च. ज. 'तिश्रुतेः । त' । १५ घ. ध्रुवं श्रुतेः । त' । १६ क. 'ध्रुवा' ।

दृष्टादेः कारणमनात्मदर्शनमित्यत्र हेतुमाह—।तिकूलत्वादिति । अविद्येति शेषः । तृष्णास्वरूपं दर्शयति—या चेति । पराक्षवेत्यस्य व्याख्या दृष्टेत्यादि । परावत्वे हेतुमाह—अविद्येति । भुञ्जन्त इति भोगास्तेषु । ताभ्यामनात्मदर्शनभोगेच्छारूपाभ्याम् । प्रतिबद्धमात्मनः परात्मत्वेन दर्शनं येषां ते तथा । पराच इत्यस्य व्याख्या बहिरित्यादि । अल्पज्ञानात्मानुगमनं नामानात्मदर्शनतृष्णापेरिताः सन्तः कामनां लब्धारो भवन्तीत्येतत् । तेन कारणेन विषयानुगमेन कारणेन । विततस्य मृत्योः पाशं यन्तीत्यन्वयः । मृत्युशब्दार्थमाह—अविद्येति । विततश्च शब्दार्थमाह—विस्तीर्णस्येत्यादि । अवयवव्युत्पत्तिपूर्वकं पाशशब्दार्थमाह—पाशयन्त इति । अर्थान्तरमाह—अनवरतेति । अनवरतेत्यादि तु पूर्वविशेषणं वा । अनर्थस्य व्रातो यस्मिन्निति विशेषणपक्षे विग्रहो भवति । यन्तीत्यस्यार्थमाह—प्रतीति । अथवा पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—अनवरतेति । एवमनात्मप्रवणस्य संसार उक्तप्रकारेण यत इत्यर्थः । प्रत्यक्स्वरूपावस्थानरूपं ध्रुवत्वमुपपादति—देवादीति । प्रत्यक्स्वरूपममृतत्वं ध्रुवमित्यत्र श्रुतिमुदाहरति—नेति । अविचार्यमकार्यमध्रुवेषु सर्वपदार्थेषु कूटस्थममृतत्वं निर्धार्येत्यन्वयः । ब्रह्मणा ब्रह्मविद्, किञ्चिदपि न कामयन्त इत्यत्र हेतुमाह—प्रत्यगात्मेति । तात्पर्यार्थमाह—पुत्रेति ॥ २ ॥

यद्विज्ञानान्न किञ्चिदन्यत्प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः कथं तदधिगमं इति ।  
बुध्यते—

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शाश्च मैथुनान् । एतेनैव  
विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥ ३ ॥

येन विज्ञानस्वभावेनाऽऽत्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शाश्च मैथु-  
नान्मैथुननिमित्तान्मुखप्रत्ययान्विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वो लोकः ।  
ननु नैवं प्रसिद्धिलोकस्याऽऽत्मना देहादिविलक्षणेनाहं विजानामीति ।  
देहादिसंघातोऽहं विजानामीति तु सर्वो लोकोऽवगच्छति । न  
त्वेवम् । देहादिसंघातस्यापि शब्दादिस्वरूपत्वाविशेषाद्विज्ञेयत्वविशे-  
षाच्च न युक्तं विज्ञातृत्वम् । यदि हि देहादिसंघातो रूपाद्यात्मकः  
संरूपादीन्विजानीयाद्वाद्या अपि रूपादयोऽन्योन्यं स्वं स्वं रूपं च

१ ख. ज. 'म उ' । २ ग. घ. 'नन्मिथु' । ३ छ. ज. 'नैव प्र' । ४ ख. ज. 'सर्वलो' । ५ क.  
घ. 'नभ्वेव' । ६ क. ज. ट. 'दि दे' । ७ ख. ज. 'घातः स्वरूपतः' । ८ क. ड. 'यात्तदा वाद्या ।  
९ घ. 'ग्यं स्वस्वरु' ।

विजानीयुः । न चैतदस्ति । तस्माद्देहादिलक्षणांश्च रूपादीनेतेनैव देहा-  
द्विष्यतिरिक्तैर्नैव विज्ञानस्वभावेनाऽऽत्मना विजानाति लोकः । यथा येन  
लोहो दहति सोऽग्निरिति तद्वत् । आत्मनोऽविज्ञेयं किमत्रास्मिँल्लोके परि-  
शिष्यते न किञ्चित्परिष्यते सर्वमेव त्वात्मना विज्ञेयम् । यस्यऽऽत्म-  
नोऽविज्ञेयं न किञ्चित्परिशिष्यते स आत्मा सर्वज्ञः । एतद्दे तत् । किं  
तद्यन्त्रचिकेतसा पृष्ठं देवादिभिरपि विचिकित्सितं धर्मादिभ्योऽन्यद्विष्णोः  
परमं पदं यस्मात्परं नास्ति तद्वा एतदधिगतमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अ० टी०—कथं तदधिगम इति किं वैदिकत्वाद्धर्मवत्परोक्षत्वेन किंवा घटादिव-  
त्सिद्धत्वादपरोक्षत्वेनापीत्याकाङ्क्षायामात्मत्वाद्ब्रह्मणोऽपरोक्षत्वेनैवावगमः सम्यगवगम  
इत्युच्यते—येनेत्यादिना । मूढानां व्यतिरिक्तेनाऽऽत्मना देहादर्वेद्यत्वं यद्यपि न  
प्रसिद्धं तथाऽपि विचारकाणां व्यतिरिक्तैर्नैव वेद्यत्वं असिद्धं ततो यच्छब्देन प्रसिद्धव-  
त्परामर्शो न विरुध्यत इति परिहरति—न त्वेवं देहादीत्यादिना । दैहिकाः शब्दा-  
दयो न स्वात्मानमन्यं च विजानीयुः शब्दादित्वाददृश्यत्वाच्च बाह्यवत् । विपक्षे बाध-  
कमाह—यदि हीति ॥ ३ ॥

गो० टी०—किं धर्मवत्परोक्षत्वेनेत घटवत्प्रत्यक्षत्वेन वाऽऽत्मनोऽधिगम इत्याका-  
ङ्क्षापूर्वकमुत्तरं व्याचष्टे—यद्विज्ञानादित्यादिना । देहादिविलक्षणविज्ञानस्वभावत्व-  
मात्मनोऽप्रसिद्धमित्याक्षिपति—नन्विति । विजानामीति । शब्दादीनी( नि )ति  
शेषः । सार्वलौकिकप्रतीतिं दर्शयति—देहादीति । तथा च येनेतिः प्रसिद्धार्थकयच्छ-  
ब्दप्रयोगोऽनुपपन्न इति भावः । यद्यप्यात्मनो लोकतोऽविलक्षणत्वप्रसिद्धिस्तथाऽपि वि-  
चारकाणां व्यतिरिक्तत्वेनैवाऽऽत्मस्वरूपप्रसिद्धेर्यच्छब्दविरोधो नास्तीति परिहरति—  
नेत्यादिना । देहादेर्विज्ञातृत्वाभावे हेतुद्वयमाह—शब्दादीत्यादिना । गुणगुणि-  
नोरभेदाच्छब्दादिस्वरूपत्वं संघातस्य द्रष्टव्यम् । कार्यकारणसंबन्धिनः शब्दादयः  
स्वात्मानमन्यं च न जानीयुः शब्दादित्वाददृश्यत्वाद्बाह्यशब्दादिवत् । विपक्षे दोषमाह—  
यदि हीति । एतच्छब्दादेः स्वरूपविज्ञानं नास्तीत्युक्ते फलितमाह—तस्मादिति ।  
लोकः संघातात्मा व्यतिरिक्तस्वभावेन संघातस्य विज्ञातृत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । येनो-  
पगप्रकाशात्मना तद्व्यतिरिक्तात्मना संघातो जानातीत्यर्थः । शब्दादिकतिपयविज्ञेयो-  
पादानादसर्वज्ञत्वमाशङ्क्याऽऽह—आत्मनेति । ( त्मन इति । ) आविज्ञेयमिति च्छेदः ।  
सर्वस्य विज्ञेयत्वे फलितमाह—यस्येति । तत्त्वविज्ञानमुपसंहरति—एतदिति । तद्वैक्य-  
विषयमिति, प्रकृतमनुद्धाने—यदित्यादिना । यदित्यादिवैक्यभ्यां त्वंपदलक्षणनि-

देशोऽन्यदिति तत्पदलक्ष्यनिर्देशः । नास्तीत्यन्तेन वाक्यार्थनिर्देशः । वैशब्द- सर्वोपनि-  
षदे( दै )करूप्यपदर्शनार्थः ॥ ३ ॥

अतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्विज्ञेयमिति मत्वेतमेवार्थं पुनः पुनराह—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्यर्थः । तथा जागरितान्तं जागरि-  
तमध्यं जागरितविज्ञेयं च । उभौ स्वप्नजागरितान्तौ येनाऽऽपनाऽनुप-  
श्यति लोक इति सर्वं पूर्ववत् । तं महान्तं विभुमात्मानं मत्वाऽवग-  
म्याऽऽत्मभावेन साक्षादहमस्मि परमात्मेति धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

आ० टी०—॥ ४ ॥

गो० टी०— विज्ञेयपरिसमाप्तेरुत्तरग्रन्थवैयर्थ्यशङ्कयामाह— अतिसूक्ष्मत्वा-  
दिति । आह प्रकारान्तरेणेति शेषः । त्रिपुटीसंग्रहार्थमाह— स्वप्नविज्ञेयमिति ।  
एवमुत्तरत्र । पूर्ववदिति । यच्छब्दश्लेषसमाधानादि सर्वं पूर्ववदित्युच्यते । महान्तं  
व्यापकम्, विभुं विविधं भवत्यस्मादिति विभुं सर्वकल्पनाधिष्ठानमित्यर्थः । इति साक्षा-  
न्मत्वेति संबन्धः । साक्षात्कार एव धैर्यं तद्वानित्यर्थः ॥ ४ ॥

किंच—

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।

ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥ ५ ॥

यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धारयि-  
तारमात्मानं वेद विजानात्वन्तिकादन्तिके समीप ईशानमीशितारं भूत-  
भव्यस्य कालत्रयस्य, ततस्तद्विज्ञानाद्दूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न  
गोपायितुमिच्छेत्त्वभयप्राप्तत्वात् । यावद्धि भयमध्यस्थोऽनित्यमात्मानं  
सन्त्यते तावद्गोपायितुमिच्छत्यात्मानम् \* । यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं  
विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेदेतद्वै तदिति  
पूर्ववत् ॥ ५ ॥

आ० टी०—॥ ५ ॥

गो० टी०— कर्मफलभोक्तृत्वप्राणादिकलापधारयितृत्वोपलक्षितमात्मानं त्वंपदलक्ष्यं  
कालत्रयपरिच्छेद्यवस्वीशितृत्वोपलक्षिततत्पदलक्ष्यं यः कश्चिदधिकारी वेद साक्षात्क-

\* अत्र टीकानुरोधेन षष्ठ्यन्तपाठोऽपेक्ष्यते ।

रोति स तस्मादनन्तरमात्मानं नरकपातादिभयान्न रक्षितुमिच्छतीति प्रकारान्तरमाह—  
किंचेति । मधु कर्मफलमर्त्तीति मध्वदस्तमिति व्युत्पत्त्याऽऽह—मध्वदामिति । सा-  
मीप्यं चात्रामेदः । अभेदेन वेदेत्यर्थः । अरक्षणे हेतुमाह—अभयप्राप्तत्वादिति ।  
उक्तमर्थं व्यतिरेकेणोपपादयति—यावद्गीति । आत्मन इति कर्मणि षष्ठी । अन्वय-  
माह—यदेति । नित्यस्यापि द्वितीयसंबन्धाद्भयशङ्का तन्नेत्याह—अद्वैतामिति । पूर्व-  
मिति । यन्नाचिकेतसा पृष्टं देवादिभिर्विचिकित्सनं धर्मादिभ्योऽन्वद्विष्णोः परमं पदं  
यस्मात्परं नास्ति तद्वा एतदधिगतमित्यर्थः ॥ ९ ॥

यः प्रत्यगात्मेश्वरभावेन निर्दिष्टः स सर्वात्मेत्येतद्वर्शयति—

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत । गुहां

प्रविशति तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत । एतद्वै तत् ॥ ६ ॥

यः कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्व प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणाद्ब्रह्मण इत्येतज्जा-  
तमुत्पन्नं हिरण्यगर्भम् । किमपेक्ष्य पूर्वमित्याह—अद्भ्यः पूर्वमप्सहिते-  
भ्यः पञ्चभूतेभ्यो न केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः । अजायत, उत्पन्नो  
यस्तं प्रथमजं देवादिशरीराण्युत्पाद्य सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य  
बिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं भूतेभिर्भूतैः कार्यकारणलक्षणैः सह तिष्ठन्तं  
यो व्यपश्यत यः पश्यतीत्येतत् । य एवं पश्यति स एतदेव पश्यति  
यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म ॥ ६ ॥

आ० टी०—यः कश्चित्पूर्वं तपसो जातं पश्यति स प्रकृतं ब्रह्मैव पश्यतीति  
संबन्धः । अद्भ्यः पूर्वमित्यादिना हिरण्यगर्भस्य विशेषणान्तःकरणांशेन जीवाव-  
च्छेदकत्वाज्जीवतादात्म्यविवक्षया विशेषणं शब्दादीनुपलभमानमिति । यदिति । यस्मा-  
ल्लोके सुवर्णाज्जातं कुण्डलं सुवर्णमेव भवति तद्ब्रह्मणो जातो हिरण्यगर्भोऽपि ब्रह्मा-  
त्मक एवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

गो० टी०—उत्तरभेदस्य तात्पर्यमाह—य इति । यः पूर्वं तपसो जातं हिरण्य-  
गर्भं पश्यति स यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म तदेव पश्यतीति संबन्धः । आकाङ्क्षापूर्वकं हिरण्यगर्भं  
विशिनष्टि—किमित्यादिना । प्रथमजं पश्यतीत्यन्वयः । तस्यैव विशेषणान्तरमाह—  
देवादीति । शब्दादीनुपलभमानमिति । ननु हिरण्यगर्भस्य प्रतिदेहं भोगाभावात्कथं  
शब्दादीनुपलभमानमिति चेद्विरण्यगर्भस्यान्तःकरणांशेन जीवोपाधित्वाज्जीवतादा-

स्याविवक्षया विशेषणं शब्दादीनुपलभमानमि[ती]ति भावः । ननु हिरण्यगर्भदर्शनं प्रकृतब्रह्मदर्शनं कथमिति चेत्सुवर्णाज्जातं कुण्डलं सुवर्णं यथा तद्ब्रह्मणो जातो हिरण्यगर्भोऽपि ब्रह्मात्मक एवेति बोध्यम् ॥ ६ ॥

किंच—

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी । गुहां प्रविश्य

तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्यजायत । एतद्वै तत् ॥ ७ ॥

या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद्ब्रह्मणः संभवति शब्दादीनामदनाददितिस्तां पूर्ववद्गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम् । तामेव विशिनष्टि—या भूतेभिर्भूतैः समन्विता व्यजायत, उत्पन्नेत्येतत् ॥ ७ ॥

आ० टी०— हिरण्यगर्भस्यैव विशेषणान्तरमाह—किंचेति ॥ ७ ॥

गो० टी०—हिरण्यगर्भस्यैव विशेषणान्तरमाह—किंचेति । अदनाद्ब्रह्मणात् । पूर्ववदन्तःकरणद्वारा जीवतादात्म्यापन्नत्वाद्गुहायां स्थितिरित्यर्थः ॥ ७ ॥

किंच—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भि-

णीभिः । दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनु-

ष्येभिरग्निः । एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

योऽधियन्न उत्तराधरारण्योर्निहितः स्थितो जातवेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां भोक्ताऽध्यात्मं च योगिभिर्गर्भ इव गर्भिणीभिरन्तर्वत्नीभिरगर्हितान्नपानभोजनादिना यथा गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्भृगभृतो लोके इवेत्यमेवत्विग्भिर्योगिभिश्च सुभृत इत्येतत् । किंच दिवे दिवेऽहन्यहनीड्यः स्तुत्यो बन्धश्च कर्मिभिर्योगिभिश्चाध्वरे हृदये च जागृवद्भिर्जागरेणशीलवद्भिरप्रमत्तैरित्येतद्भविष्मद्भिराज्यादिमाद्भिर्ध्यानभावनावाद्भिश्च मनुष्येभिर्मनुष्यैरग्निरेतद्वै तत्तदेव प्रकृतं ब्रह्म ॥ ८ ॥

आ० टी० ॥ ८ ॥

गो० टी०—कटुकषायवर्जितं पानं श्लेष्मवातकरभिन्नस्य, भोजनमगर्हितम् । दाष्टान्तिकमाह— इत्यमिति । यत्प्रकृतं ब्रह्म तदेतदग्निवि(र्वि)राड् रूपमित्यर्थः ॥ ८ ॥

१ क. ख. ज. 'दिनाऽयं य' । २ क. ख. ज. 'कः इतीत्य' । ग च. अ. 'क इदित्य' । घ. 'क इवेत्येतद्विग्भि' । ३ ग. घ. 'संभृ' । ४ क. ख. ज. 'रशीलैर' । ५ ग. 'देवप्रकृत' ।

किंच—

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति । तं देवाः

सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ ९ ॥

यतश्च यस्मात्प्राणादुदेत्युत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मि-  
न्नेव च प्राणेऽहन्यहनि गच्छति तं प्राणमात्मानं देवा अग्न्यादयोऽधिदैवं  
वागादयश्चाध्यात्मं सर्वे विश्वेऽरा इव रथनाभावर्पिताः संपवेशिताः  
स्थितिकाले । सोऽपि ब्रह्मैव । तदेतत्सर्वात्मकं ब्रह्म । तदु नात्येति  
नातीत्य तदात्मकतां तदन्यत्वं गच्छति कश्चन कश्चिदपि । एतद्वै तत् ॥ ९ ॥

आ० टी०—॥ ९ ॥

गो० टी०—प्राण द्विरण्यगर्भात् । सर्वात्मकं ब्रह्मोपसंहरति—तदेतदिति । उशब्द  
एवार्थोऽयेतीत्यनेन संबध्यते । कश्चिदप्यज्ञोऽपि जनः, सुषुप्तौ प्राधान्येन तदात्मकतां  
जाग्रत्स्वप्नयोस्तत्संबन्धितां च गच्छतीत्यर्थः । अथवा फलार्थं ज्ञानेन संभूतकर्मानुष्ठाना  
तत्संबन्धिहिरण्यगर्भात्मकतां गच्छति निरतिशयपुरुषार्थी केवलात्मज्ञानेन तदात्मकतां  
गच्छतीत्यर्थः । एतद्वै तदिति पूर्ववद्ब्याख्येयम् ॥ ९ ॥

यद्ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वर्तमानं तत्तदुपाधित्वाद्ब्रह्मवदवभासमानं  
संसार्यन्त्यत्परस्माद्ब्रह्मण इति मा भूत्कश्चिदशङ्केतीदमाह—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्यु-

मामोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

यदेवेह कार्यकारणोपाधिसमन्वितं संसारधर्मवदवभासमानमाविवे-  
किनां तदेव स्वात्मस्यममुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्म-  
जितं ब्रह्म । यच्चामुत्रामुष्मिन्मात्मनि स्थितं तदेवेह नामरूपकार्यकारणो-  
पाधिमनु विभाव्यमानं नान्यत् । तत्रैवं संत्युपाधिस्वभावभेददृष्टिलक्ष-  
णयाऽविद्यया मोहिताः संन्य इह ब्रह्मण्यनानाभूते परस्मादन्योऽहं

१ क. ख. ज. देवाः सर्वेऽग्न्या । २ क. ख. ज. अ. 'दिषु स्था' । ३ ड. झ. ठ. ट. 'मानमुपा' । ४ क. ख. ज. 'र्यन्यः पर' । ५ ग. घ. झ. ट. 'र्यकर' । ६ ड. झ. अ. ट. 'र्मवि' । ७ क. ख. ज. 'तं तदन्विह त' । ८ ग. घ. झ. ट. 'र्यकर' । ९ ख. ज. सति य उपा । १० क. ख. ज. 'हितो यः सभिह । ११ ख. ज. स इ' ।

मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति नानेव भिन्नमिव पश्यत्युलभते स मृत्योर्भरणान्भरणं मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणभावमाप्नोति प्रतिपद्यते । तस्मात्तथा न पश्येत् । विज्ञानैकरसं नैरन्तरेणाऽऽकाशवत्परिपूर्णं ब्रह्मैवाहमस्मीति पश्येदिति वाक्यार्थः ॥ १० ॥

आ० टी०—सर्वात्मकं ब्रह्मोक्तं तदसत् । उपाध्यवच्छिन्नचैतन्यस्य जीवस्य संसारित्वाद्विरुद्धधर्माक्रान्तयोरैक्यायोगादित्याशङ्क्य विरुद्धधर्मत्वस्योपाधिनिबन्धनत्वात्स्वभाववैक्ये न किञ्चिदनुपपन्नमित्याह—यद्ब्रह्मादीत्यादिना । अमुष्मिन्मृत्युकारणत्वोपाधौ । उपाधिः स्वभावश्च भेददृष्टिश्च ताभ्यां कारणतया लक्ष्यत इत्युपाधिस्वभावभेददृष्टिलक्षणा । न ह्यन्तःकरणाद्युपाधेर्भेददृष्टेश्चानिर्वाच्याविद्यामन्तरेण संभवः कार्यकारणभावस्य संवित्संबन्धस्य च दुर्निरूपत्वात् । नानेवेत्युपमार्थ इवशब्दः । यथा स्वप्ने नानात्वाभावेऽपि नानात्वमध्यारोप्य सत्यत्वाभिनिवेशेन व्यवहरति तथा जागरितेऽपि नानात्वमध्यारोप्य सत्यत्वाभिनिवेशेन यो व्यवहरति तस्य निन्दितत्वादेकरसं ब्रह्मैवास्मीति प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः ॥ १० ॥

गो० टी०—ननु सर्वात्मकं ब्रह्मोक्तं तदसत्तत्तदुपाध्यवच्छिन्नचैतन्यस्य संसारित्वाद्ब्रह्मणश्चासंसारित्वाद्विरुद्धधर्माक्रान्तयोरैक्यायोगादित्याशङ्कते—यद्ब्रह्मादिष्विति । तत्तदुपाधिकत्वात्स्थान्तोपाधिमत्त्वाद्ब्रह्मवदवभासमानं तच्चैतन्यं संसारी स च परस्माद्ब्रह्मणोऽन्य इति संबन्धः । उत्तरमाह—मा भूदिति । इत्याशङ्का कस्यचिन्मा भूदिति विरुद्धधर्मत्वस्योपाधिनिबन्धनत्वान्न स्वभाववैक्ये किञ्चिदनुपपन्नमित्युत्तरमाहेत्यर्थः । इह जीवोपाधौ । अत्रभ समानमिति विशेषणद्वयान्वाये । ननु प्रत्यक्चैतन्यं यच्छब्दवाच्यं विवेकिनां नैवं भासते तत्रऽह—अविवेकिनामिति । तदेवामुत्र कारणोपाधावित्यन्वयः । ननु विशिष्टजीवचैतन्यस्य कथं तत्पदार्थरूपत्वं तत्राऽह—स्वात्मस्थमिति । लक्षितमित्यर्थः । ब्रह्म भवतीति शेषः । व्यतिहारमाह—यच्चेति । अमुष्मिन्कारणोपाधौ । अन्वित्यस्यार्थमाह—अनु विभाव्यमानमिति । अभेददर्शने भेदनिन्दामवतारयति—तत्रेति । जीवेश्वरोपाध्योर्मध्ये । एवं सति तद्गतचैतन्यैकत्वे सति । उपाधिस्वभावश्च भेददृष्टिश्च ताभ्यां कारणतया लक्ष्यत इत्युपाधि- [स्वभाव]भेददृष्टिलक्षणा तथा । न ह्यन्तःकरणाद्युपाधेर्भेददृष्टेश्चानिर्वाच्याविद्यामन्तरेण संभवः कार्यकारणभावस्य संवित्संबन्धस्य च दुर्निरूपत्वादिति भावः । भिन्नदर्शनमनुकरोति—परस्मादिति । नानेवेत्युपमार्थ इवशब्दः । यथा स्वप्नेऽनानात्वस्वभावे प्रत्यगात्मनि नानात्वमध्यारोप्य सत्यत्वाभिनिवेशेन व्यवहरति तथा जागरितेऽपि नानात्वमध्यारोप्य सत्यत्वाभिनिवेशेन यो व्यवहरति तस्य निन्दितत्वादेकरसं ब्रह्मै-



स्मीति प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः । मरणग्रहणमुपलक्षणमिति व्याचष्टे—पुनः पुनरिति ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन । मृत्योः

स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥

प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन मनसैदं ब्रह्मैकरसमाप्तव्यमा-  
त्मेव नान्यदस्तीति । आप्ते च नानात्वप्रत्युपस्थापिकाया अविद्याया  
निवृत्तत्वादिह ब्रह्मणि नाना नास्ति किञ्चनाणुमात्रमपि । यस्तु पुनर-  
विद्यातिभिरदृष्टिं न मुञ्चति नानेव पश्यति स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव  
स्वल्पमपि भेदमध्यारोपयन्नित्यर्थः ॥ ११ ॥

आ० टी०—एकरसं चेद्ब्रह्म कथं ज्ञातृज्ञेयविभाग इत्याशङ्क्याज्ञं प्रति कल्पित-  
भेदेनेत्याह—प्रागेकत्वविज्ञानादिति ॥ ११ ॥

गो० टी०—एकरसं चेद्ब्रह्म कथं ज्ञातृज्ञेयविभाग इत्याशङ्क्याज्ञं प्रति कल्पितभेदे-  
नेत्याह—प्रागेकत्वविज्ञानादिति । इति यस्मान्नान्यदस्ति तस्माद्ब्रह्मैवेत्यन्वयः । ज्ञाना-  
नन्तरं फलमाह—आप्ते चेति । नानादर्शननिन्दामुपसंहरति—यस्तिवति ॥ ११ ॥

पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माऽऽह—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि । ईशानो भूत-

भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणः । अङ्गुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं तच्छि-  
द्रवर्त्यन्तःकरणोपाधिरङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रवंशपर्वमध्यवर्त्यम्बरवत् । पुरु-  
षः पूर्णमनेन सर्वमिति । मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति यस्तमात्मानमी-  
शानं भूतभव्यस्य विदित्वा न तत इत्यादि पूर्ववत् ॥ १२ ॥

आ० टी०—अङ्गुष्ठपरिमाणं जीवमनूय ब्रह्मभावविधानाद्विधीयमानविरोधादङ्गुष्ठ-  
मात्रस्याविवक्षितत्वाद्ब्रह्मपरमेव वाक्यमित्याह—पुनरपि तदेवेति ॥ १२ ॥

गो० टी०—अङ्गुष्ठपरिमाणं जीवमनूय ब्रह्मभावविधानाद्विधीयमानविरोधादङ्गुष्ठ-  
मात्रवस्य चाविवक्षितत्वाद्ब्रह्मपरमेव वाक्यमित्याह—पुनरपीति । तस्य पुण्डरीकस्य  
च्छिद्रं तत्प्राधान्येनाऽऽधारमस्येति (धारोऽस्ये) \* तच्छिद्रवदन्तःकरणमुपाधिर्यस्य स

\* भाष्य एतदतुरोधेन तच्छिद्रवदन्तःकरणोपाधिरिति पाठः स्यात् ।

१ क. 'नसैवेदं २ ग. च. 'णि नेह मा' । ३ घ. यश्च पु' । ४ क. 'अस्तीह ब्रह्मणि ना' ।  
५ ख. न. 'ति मृत्यो' । ६ ख. छ. झ. 'शानं भू' । ७ क. ख. ज. ततो विजुगुप्सते एतद्वै तदि-  
त्यादि पू' ।

तथोक्तः । उपाधिप्रयुक्तमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमित्यत्र दृष्टान्तमाह—अङ्गुष्ठमात्रेति । अङ्गुष्ठपरिमितेणुवर्त्याकाशस्योपाधिवशादङ्गुष्ठपरिमाणत्वं यथा तद्वदात्मन इत्यर्थः । प्रत्यगात्मानमनूय तस्य सामानाधिकरण्यलब्धतत्पदलक्ष्यस्वरूपतामाह—य इति । ततस्तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मनं न गोपायितुमिच्छतीत्यभयस्य प्राप्तत्वादिति व्याख्यानं तत इत्यादेः पूर्ववदित्याह—न तत इति ॥ १२ ॥

किंच—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो

भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः । एतद्वै तत् ॥ १३ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकोऽधूमकमिति युक्तं ज्योतिष्परत्वात् । यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदय ईशानो भूतभव्यस्य स नित्यः कूटस्थोऽद्येदानीं प्राणिषु वर्तमानः स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते नान्यरतत्सभोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थः । अनेन नायमस्तीति चैक इत्ययं पक्षो न्यायतोऽप्राप्तोऽपि स्ववचनेन श्रुत्या प्रयुक्तस्तथा क्षणभङ्गवादश्च ॥ १३ ॥

आ० टी०—॥ १३ ॥

गो० टी०—नायमस्तीति द्वितीयपक्षस्योत्तरत्वेनोत्तरं वाक्यमवतारयति—किंचेति । युक्तं पठनमिति शेषः । तत्र हेतुमाह—ज्योतिरिति । परत्वाद्विशेषणत्वमित्यर्थः । यः प्रत्यगात्मा भूतभव्यमेशानः सल्लक्षित इत्यन्वयः । उरपर्ये व्याख्यातः । एवकार्थमाह—नान्य इति । यदर्थं वाक्यमवतारितं तमाह—अनेनेति । नन्वस्य कृतहानाकृताभ्यागमादिदोषात्प्राप्तिरेव नेत्यत आह—न्यायत इति । प्रत्युक्तो दार्ढ्यार्थमिति शेषः । प्रत्युक्त इत्यन्वयार्थश्चकारः ॥ १३ ॥

पुनरपि भेददर्शनापवादं ब्रह्मण आह—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति । एवं

धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥

यथोदकं दुर्गे दुर्गभे देश उच्छिन्ने वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्ववत्सु निम्नप्रदेशेषु विधावति विकीर्णं सद्विनश्यति, एवं धर्मानात्मनो भिन्नान्पृथक्पश्यन्पृथगेव प्रतिशरीरं पश्यंस्तानेव शरीरभेदानुवर्तिनोऽनुविधावति । शरीरभेदमेवं पृथक्पुनः पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

आ० टी०—॥ १४ ॥

गो० टी०—पौनरुक्त्यं परिहरन्संबन्धमाह—पुनरपीति । उच्छिन्नं उन्नते । दधतः इति धर्मा इत्याह—आत्मन इति । अनु[वि]धावतीत्यस्य तात्पर्यार्थमाह—शरीरंति ॥ १४ ॥

यस्य पुनर्विधावतो विध्वस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धविज्ञानघ-  
नैकरसमद्वयमात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्भननशीलस्याऽऽत्मस्वरूपं  
कथं संभवतीत्युच्यते—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिकं तादृगेव भवति । एवं  
मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली समाप्ता ॥ १ ॥ (४) ।

====

यथोदकं शुद्धे पसन्ने शुद्धं पसन्नमासिकं प्रक्षिप्तभेकरसमेव न न्यथा  
तादृगेव भवत्यात्माऽप्येवमेवं भवत्येकत्वं विजानतो मुनेर्भननशीलस्य हे  
गौतम । तस्मात्कुतार्किकभेददृष्टिं नास्तिककुदृष्टिं चोज्जित्वा × मातृपितृ-  
सहस्रेभ्योऽपि हितैपिणा वेदेनोपदिष्टमात्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैरादरणी-  
यमित्यर्थः ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-  
श्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये  
द्वितीयाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥ (४) ।

आ० टी०—॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते  
काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली समाप्ता ॥ १ ॥ (४) ।

गो० टी०—यथोदकं शुद्धं इति वाक्यमपेक्षितं पूर्यन्व्यावष्टे—यस्येत्यादिना ।  
उपात्रिगविद्यादिः । संपूर्णवर्त्यास्तात्पर्यार्थमाह—तस्मादिति । यस्माद्बहुशो भेदो नि-  
न्दितस्तस्य इत्यर्थः । नास्तिकभेददृष्टिः क्षणिकविज्ञानात्मसंतानत्तमभेददृष्टिस्ताम् ।

× मध्यमपदलोपी समासः ।

१ झ. ङ ठ. 'ज्ञानैकर' । २ घ. ज. 'थं भवति य' । ३ ज. 'त्मा संभ' । ४ क. ख. ज.  
'वमेवाऽऽत्मा भ' । ५ ख. ज. 'मातापि' ।

सर्वापेक्षया पित्रोर्हितवत्कृत्यं प्रसिद्धम् । श्रुतितोऽन्यस्य सम्यग्भित्तिषित्वं नेति श्रुत्यु-  
क्तमद्वैतदर्शनमेवाऽऽदरणीयं श्रद्धाभक्तिभ्यामित्यर्थः ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्यवर्यश्रीमद्दालगोपालेन्द्रयतीश्वरविरचिते काठ-  
कोपनिषद्भाष्यविवरणे द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली समाप्ता ॥ १॥(४) ।

पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भो दुर्विज्ञेयत्वा-  
द्ब्रह्मणः—

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः । अनुष्ठाय न  
शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वै तत् ॥ १ ॥

पुरं पुरमिव पुरम् । द्वारपालाधिष्ठात्राद्यनेकपुरोपकरणसंपत्तिदर्शना-  
दृच्छरीरं पुरम् । पुरं च सोपकरणं स्वात्मनाऽसंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम् ।  
तथेदं पुरसामान्यादनेकोपकरणसंहतं शरीरं स्वात्मनाऽसंहतराजस्था-  
नीयस्वाम्यर्थं भवितुमर्हति । तथेदं शरीराख्यं पुरमेकादशद्वारमेकादश-  
द्वाराण्यस्य सप्त शीर्षण्यानि नाभ्या सहार्वाञ्चि त्रीणि शिरस्वेकं तैरेका-  
दशद्वारं पुरं कस्याजस्य जन्मादिविक्रियारहितस्याऽऽत्मनो राजस्थानी-  
यस्य पुरधर्मविलक्षणस्य । अवक्रचेतसोऽवक्रपकुटिलमादित्यप्रकाशवाग्नि-  
त्यमेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानमस्येत्यवक्रचेतास्तस्याऽवक्रचेतसो  
राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः । यस्येदं पुरं तं परमेश्वरं पुरस्वाभिनमनुष्ठाय  
ध्यात्वा । ध्यानं हि तस्यानुष्ठानं सम्यग्ब्रह्मज्ञानपूर्वकम् । तं सर्वैषणावि-  
निर्मुक्तः सन्समं सर्वभूतस्थं ध्यात्वा न शोचति । तद्विज्ञानादभयभङ्गिः  
शोकावसराभावात्कुतो भयेक्षा । इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो  
भवति । विमुक्तश्च सन्विमुच्यते पुनः शरीरं न गृह्णातीत्यर्थः ॥ १ ॥

आ० टी०—पौनरुक्त्यं परिहरन्संबन्धमाह—पुनरपीति । भूयोऽपि पृथग्व-  
क्तव्यमिति न्यायेनोपायान्तरेण ब्रह्म ज्ञाप्यते तत्रोपाया एव भिद्यन्ते नोपेयस्य भेदोऽ-  
स्तीति । पुरेणासंहतत्वं स्वाभिनः पुरोपचयापचयाभ्यामुपचयापचयराहित्यम् । तत्सत्ता-  
प्रतीतिमन्तरेण सत्ताप्रतीतिमत्त्वं स्वातन्त्र्यम् ॥ १ ॥

१ क. झ. ङ. ट. 'णार्थोऽयमा' । २ क. 'र्थोऽप्यय' । ३ झ. ङ. ट. दुर्ज्ञेय' । ४ घ. 'नीयं स्वा' ।  
५ झ. ट. 'स्वात्मार्थ' । ६ क. च. झ. ङ. ट. 'हावाञ्चि शि' । ७ ङ. ट. 'यस्याजस्य ब्र' ।  
८ घ. 'र्वकं स० । ९ क. ख. ग. झ. सर्वेष' । १० घ. च. 'प्रप्ति. शो' । ११ क. घ. क. च.  
'कृत इ' । ख. ग. 'कृतो भयेच्छा' । ग. कृतो भयापेक्षा ।

गो० टी०— नन्वनेकप्रकारमात्मतत्त्वं प्रतिपादितं किमर्थमुत्तरवल्ल्याम्भ इति चेदात्मतत्त्वस्य दुर्विज्ञेयत्वात्प्रकारान्तरेण तदुक्तिरिति पौनरुक्त्यं परिहरन्संबन्धमाह— पुनरपीति । भूयोऽपि पृथं वक्तव्यमिति न्यायेनोपयान्तरेणापि ब्रह्म ज्ञाप्यते तत्रोपाया एव भिद्यन्ते नोपेयस्य भेदोऽस्तीति भवः । अक्षराणि व्याचष्टे—पुरमिति । पुरं शरीरमिति संबन्धः । पुरसादृश्यमाह—द्वारेति । दृष्टान्ते द्वारपाला भटा, तेषामधिष्ठातारोऽधिपतयः । आदेशब्देन मन्त्रबन्धिसप्तपाकारयन्त्राट्टालिकादिर्गृह्यते । दार्ष्टान्तिके तु मूर्धनाभिसहितचक्षुःश्रोत्रनासिकामुखाधोरन्ध्राणि द्वाराणि द्वारपालश्चक्षुरादीन्द्रियाणि । नामैः समानो मूर्धनः प्राणस्तेषामधिष्ठातारो दिग्गादयः । आदेशब्देन त्वङ्मांसरुधिरमेदोमज्जास्थिरनायवः प्राकारसदृशाः । मूलाधारा[द्या]ज्ञातः(न्ता)-न्यट्टालिकासदृशानि संघट्टो यन्त्राणि रोमाणि प्राकारोपरिस्थितविशाखसदृशानीत्यादि द्रष्टव्यम् । शरीरस्य पुरत्वरूपकोक्तः प्रयोजनमाह—पुरं चेति । स्वात्मना पुरेणासंहतत्वं स्वामिनः पुरोपचयापचयाम्यामुपचयापचयराहित्यम्, पुरसत्ताप्रतीतिमन्तरेण सत्ताप्रतीतिमत्त्वं स्वातन्त्र्यम् । तथेति । यथा पुरेणासंहतः स्वतन्त्रो यः स्वामी तच्छेषतया पुरं दृष्टं तथा पुरसादृश्यादनेकोपकरणसहितं प्रत्यक्षं शरीरं शरीरेणासंहतो राजस्थानीयः स्वतन्त्रो यः स्वामी तदर्थं भवितुमर्हतीत्यर्थः । तस्वाम्यर्थम् । विशेषणसमुच्चयार्थश्चकारः । विशेषणमेव व्याचष्टे—एकादशेति । पुरस्वामिनमाकाङ्क्षापूर्वकं सविशेषं संनिर्दिशति—कस्येति । जन्मादीति । षड्भावरहितस्येत्यर्थः । दृष्टान्ते राज्ञोऽवक्रचेतस्त्वं सर्वप्रकृत्यनुकूलत्वम् । प्रकृते तु यथा सविता स्वाविन भूतप्रकाशवानित्युच्यते तथा जन्मादिरहिताखण्डरूपेणावस्थितनित्यविज्ञप्तिरूपत्वमित्याह—अवक्रमित्यादिना । अनुष्ठायेत्यादिवाक्यमपेक्षितं पूर्यन्त्याचष्टे—कस्येति । ननु पुरस्वामिनो जीवत्वात्तस्येश्वरत्वनिर्देशः कथमिति चेदजस्येति जीवस्यावक्रचेतस इतीश्वरत्वनिर्देशात्सामानाधिकरण्यादभेदे प्रत्यगभिन्नेश्वरस्य पुरस्वामित्वनिर्देशो षटत इति भावः । आत्मनः क्रियाविषयत्वाभावादानुष्ठानमात्मानि ध्यानमेव योग्यतावशादित्याह—ध्यानं हीति । सम्यग्विज्ञानपूर्वकमिति । अपतिबद्धपरोक्षसाक्षात्काररूपं विज्ञानं पूर्वमुद्देश्यं यस्य तत्तथा । अन्यथा सम्यग्विज्ञानानन्तरं ध्यानायोगात्साक्षात्कारार्थत्वे ध्यायतेर्लक्षणार्थत्वापत्तेस्तद्विज्ञानादभयप्राप्तिरित्युत्तरमाप्यविरोधादित्यधिकारिणं निर्दिशति—सर्वेति । भयेश्च भयस्य दर्शनमित्यर्थः । विमुक्तश्च विमुच्यत इति पदयोः पौनरुक्त्यं परिहरति—इहैवेति ॥ १ ॥

स तु नैकंशरीरपुरवर्त्येवाऽऽत्मा किं तर्हि सर्वपुरवर्ती । कथम्—

हृत्सः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरो-

णसत् । नृषद्वरसदृतसद्वचोमसदब्जां गोजा क्तजा  
अद्रिजा क्तं बृहत् ॥ २ ॥

हंसो इन्ति गच्छतीति, शुचिषच्छुचौ दिव्यादित्यात्मना सीदतीति ।  
वसुर्वासयति सर्वानिति । वाय्नात्मनाऽन्नरिक्षे सीदतीत्यन्नरिक्षसत् ।  
होताऽग्निः, अग्निर्वै होतेति श्रुतेः । वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषत्,  
इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्या इत्यादिमन्त्रवर्णात् । अतिथिः सोमः  
सन्दुरोणे कलशे सीदतीति दुरोणसत् । ब्राह्मणोऽतिथिरूपेण वा दुरो-  
णेषु गृहेषु सीदतीति । नृषन्नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत् । वरसद्वरेषु  
देवेषु सीदतीति । ऋतसदृतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन्सीदतीति । व्योम-  
सद्वचोमन्त्राकाशे सीदतीति व्योमसत् । अब्जा अप्सु शङ्खशुक्तिमक-  
रादिरूपेण जायत इति । गोजा गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायत  
इति । ऋतजा यज्ञाङ्गरूपेण जायत इति । अद्रिजाः पर्वतेभ्यो नद्यादि-  
रूपेण जायत इति । सर्वात्माऽपि सन्नृत्तमवितथस्वभाव एव । बृहन्म-  
हान्सर्वकारणत्वात् । यदाऽप्यादित्य एव मन्त्रेणोच्यते तदाऽप्यस्याऽऽ-  
त्मस्वरूपत्वमादित्यस्याङ्गी ( त्यस्येत्यङ्गी ) कृतत्वाद्ब्राह्मणव्याख्यानेऽ-  
प्यविरोधः । सर्वव्याप्येक एवाऽऽत्मा जगतो नाऽऽत्मवेद इति  
मन्त्रार्थः ॥ २ ॥

आ० टी०- या यज्ञे प्रसिद्धा वेदिः पृथिव्याः परोऽन्तः परः मन्त्रभाव इति वेद्याः  
पृथिवीस्वभाववसंकीर्तनात्पृथिवी वेदिशब्दवाच्या भवतीत्यर्थः । असौ वा आदित्यो  
हंसः शुचिषदिति ब्राह्मणेनाऽदित्यो मन्त्रार्थतया वारूपातः कथं तद्विरुद्धमिदं  
वारूपातमित्याशङ्क्याऽऽह - यदाऽप्यादित्य एवेति । सूर्य आत्मा जगतस्तस्थु-  
षश्चेति मन्त्रान्मण्डलोपलक्षितस्य विद्वानोरिष्यत एव सर्वान्मत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

गो० टी०- ननु पुरमिति विशेषणादेकपुरवर्तित्वमुक्तं तथान्वे पारिच्छिन्नत्वाप-  
त्तिरित्याशङ्क्याऽऽकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरमवतारयति-स त्विति । तुशब्देनाऽऽशङ्का  
निवर्त्यते । हंस [ सन्निति योजना । ] सन्नित्युत्तरेष्वपि द्रष्टव्यमिति व्युत्पत्त्या शुचि-  
षदादित्यः सन्नात्मेत्यर्थः । ननु वेदिशब्देन चतुरङ्गुलखाता भूमिरुच्यते कथं पृथिव्य-

१ ग. क. च. झ. ञ. ट. 'बान् । वा' । २ क. ग. सद्रोणे । ३ झ. ञ. ट. 'षु यज्ञगृ' ।  
४ ज. झ. ञ. ट. 'ति, अ' । ५ क. ख. ग. घ. ड. च. ज. 'दाऽप्यात्म' । ६ क. घ. 'पवस्वमा' ।  
७ क. ज. झ. ञ. ट. ठ. 'त्वाद्ब्राह्मणो व्या' । ख. ग. 'त्वाद्ब्राह्मणि व्या' । ८ क. ख. ज. 'वंध्याऽप्ये' ।  
९ 'वंध्याऽपि व्या' । क. च. 'वंध्या व्या' ।

मिथीयते तत्राऽऽह—इयमिति । या यज्ञे प्रसिद्धेयं वेदिः पृथिव्याः परोऽन्तः परः स्वभाव इति वेद्याः पृथिवीस्वभावत्वकीर्तनात्पृथिवी वेदेशब्दवाच्या भवतीत्यर्थः । सोमरसाधारबृहत्पात्रं द्रोणकलशशब्देनोच्यते । अतिथिशब्दस्य रूढार्थमाशयार्थान्तरमाह—ब्राह्मण इति । इति दुर्गेणसदित्यन्वयः । इति वरसदित्यन्वयः । एवमुत्तरत्र । ननु सर्वात्मत्वे सपञ्चत्वेन मिथ्यात्वं स्यादात्मन इत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेति । पारमार्थिकनिरतिशयस्वभावमे( व ए )वेत्यत्र हेतुः—बृहदिति । तत्र हेतुः—सर्वेति । निरधिष्ठानभ्रमायोगाद्द्वैतभ्रमाधिष्ठानभूतात्मनो न मिथ्यात्वमिति भावः । नन्वसौ वा आदित्यो हंसः शुचिषदित्यादित्यो मन्त्रार्थतया व्याख्यातः कथं तद्विरुद्धमिदं व्याख्यातमित्याशङ्क्याऽऽह—यदाऽप्यादित्य एवेति । अस्याऽऽदित्यस्येति संबन्धः । सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति मन्त्रवर्णान्मण्डलोपलक्षितचिद्धातोरिष्यत एव सर्वात्मत्वमित्यर्थः । सर्वव्यापीति । प्रतचिः केवलस्य मण्डलोपलक्षितचैतन्यस्य वा मन्त्रार्थत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ॥ मध्ये

वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

ऊर्ध्वं हृदयात्प्राणं प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति । तथाऽपानं प्रत्यगधोऽस्यति क्षिपति य इति वाक्यशेषः । तं मध्ये हृदयपुण्डरीकाकाश आसीनं बुद्धावभिव्यक्तविज्ञानप्रकाशनं वामनं संभजनीयं सर्वे विश्वे देवाश्चक्षुरादयः प्राणा रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विश्व इव राजानमुपासते तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भवन्तीत्यर्थः । यदर्थं यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः सोऽन्यः सिद्ध इति वाक्यार्थः ॥३॥

आ० टी०—येयं प्रेत इति या पूर्वं विचिकित्सा प्रश्नमूलत्वेनोद्भाविता साऽपि निर्मूलत्वेतद्दर्शयितुं देहव्यतिरिक्तात्मास्त्वत्वं सावयति—आत्मनः स्वरूपाधिगम इत्यादिना । सर्वे प्राणकरणव्यापाराश्चेदनार्थास्तत्प्रयुक्ता भवितुमर्हन्ति जडचेष्ट( ष्टा )त्वाद्रथचेष्टावदित्यर्थः ॥ ३ ॥

गो० टी०—येयं प्रेत इति या पूर्वं विचिकित्सा प्रश्नमूलत्वेनोद्भाविता साऽपि निर्मूलत्वेतद्दर्शयितुं देहव्यतिरिक्तास्त्वत्त्वमात्मनः सावयति—आत्मनः स्वरूपाधिगम इत्यादिना । बुद्धेः प्राधान्येन हृदयाकाशवृत्तित्वात्तत्राभिव्यक्त आत्माऽसीनं इत्युक्तं इत्याह—हृदयेति । संभजनीयं मुमुक्षुभिरिति शेषः । उपासत इत्यस्य तात्पर्यार्थमाह—तादर्थ्येनेति । आत्मार्थत्वेनानुपरतव्यापारा कार्याभिव्यक्तकाल इति शेषः ।

यदर्था इत्यनेनानुमानं सूचितम् । तथा हि सर्वे प्राणकरणव्यापाराश्चेतनार्थास्तत्प्रयु-  
क्ताश्च भवितुमर्हन्ति जडचेष्टात्वाद्द्रवादिचेष्टावदिति । अन्यः प्राणेभ्य इति शेषः ॥ ३ ॥

किंच—

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः । देहा-  
द्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥ ४ ॥

अस्य शरीरस्थस्याऽऽत्मनो विस्रंसमानस्यावस्रंसमानस्य भ्रंशमा-  
नस्य देहिनो देहवत्तः । विस्रंसनशब्दार्थमाह—देहाद्विमुच्यमानस्येति ।  
किमत्र परिशिष्यते प्राणादिकलापे न किंचन परिशिष्यतेऽत्र देहे पुर-  
स्वामिविद्रवण इव पुरवासिनां यस्याऽऽत्मनोऽपगमे क्षणमात्रात्कार्यकर-  
णकलापरूपं सर्वमिदं हृदबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति सोऽन्यः  
सिद्धः ॥ ४ ॥

आ० टी०—शरीरं चेतनशेषं तद्विगमे भोगानर्हत्वाद्वाजपुरवदित्यर्थः । किं  
चास्येति \* ॥ ४ ॥

गो० टी०—करणव्यतिरेकं साधयित्वा कार्यव्यतिरेकमाह—किंचेति । पौन-  
रुक्त्यं परिहरति—विस्रंसनेति । विमुच्यमानस्य प्रारब्धक्षय इति शेषः । प्राणादि-  
कलाप इति । कार्यकरणसंघात इत्यर्थः । यथा पुरस्वामिनो राज्ञोऽपगमे पुरवा-  
सिनो जना अन्यप्राणच्छन्ति तद्वत्प्राणाश्च इति दृष्टान्तेनाऽऽत्मनो व्यतिरेकं साध-  
यति—अत्र देह इत्यादिना । हृदबलमिति । चेतना चेतन्यस्य सामान्यवृत्तिः संघा-  
तस्य बलं तच्छून्यमित्यर्थः । अत एवाधः पततीत्याह—विध्वस्तमिति । अनेनेद-  
मनुमानं सूचितम्—शरीरं चेतनशेषं तद्विगमे भोगानर्हत्वाद्वाजपुरवदिति ॥ ४ ॥

स्यान्मतं प्राणापानाद्यपगमादेवेदं विध्वस्तं भवति न तु तद्व्यतिरि-  
क्तात्मापगमात्प्राणादिभिरेव हि मर्त्यो जीवतीति । नैतदास्ति—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण  
तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

\* शरीरमित्यादिप्रन्यासपूर्वं लिखितुं योग्यमेतत् । किंचेतत्प्रतीकस्थाने विध्वस्तमितीतिप्रती-  
कप्रहणमुचितं भाति ।

१ क. झ. म. ट. 'नस्य लं' । २ क. ग. च. 'स्य भ्रश्यमा' । घ. ङ. ट. 'स्य दे' । ३ झ.  
म. ट. 'लापो न' । ४ घ. स्वामीव । ५ क. च. 'मिनि वि' । ञ. ज. 'मिनो वि' । ६ ग. ङ.  
'सिनो य' । ७ क. झ. ट. 'र्यंकार' । ८ क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. ट. तु व्यति' । ९ क. ख. घ.  
'रेवेह म' ।



न प्राणेन नापानेन चक्षुरादिना वा मर्त्यो मनुष्यो देहवान्कश्चन जीवति न कोऽपि जीवति । न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वात्जीवनहेतुत्वमुपपद्यते । स्वार्थेनासंहतेन परेण केनचिदप्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टं गृहादीनां लोके तथा प्राणादीनामपि संहत्वाद्भ्रवितुमर्हति । अत इतरेणैव संहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति । अस्मिन्संहतविलक्षण आत्मनि सति परस्मिन्नेतौ प्राणापानौ चक्षुरादिभिः संहताब्रुवाश्रितौ, यस्यासंहतस्वार्थे प्राणापानादिः स्वव्यापारं कुर्वन्वर्तते संहतः सन्स ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः ॥५॥

आ० टी०—अन्यथासिद्धिं शङ्कते—स्यान्मतमिति । ननु जीव प्राणधारण इति धातुस्मरणाच्छरीरस्य जीवनं नाम प्राणधारणं प्राणसंयोगश्च प्राणधारणं कुण्डे दधिधारणवत्तत्र च प्राणस्यैव हेतुत्वं संयोगाश्रयत्वात् । कथमुच्यते जीवनहेतुत्वं प्राणादीनां न संभवतीति तत्राऽऽह—स्वार्थेनासंहतेनेति । काश्चित्कस्य प्राणशरीरसंयोगस्य स्वभावतोऽनुपपत्तेः संघातस्य च लोके परप्रयुक्तस्यैव दर्शनाद्भ्रवितव्यमन्येन संघातप्रयोजकेनेत्यर्थः ॥ ९ ॥

गो० टी०—हेतोरन्यथासिद्धिं शङ्कते—स्यामन्तमिति । तद्व्यतिरिक्तेशब्दः प्राणादिव्यतिरिक्तार्थः, अन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह—प्राणादिभिरेवेति । लोकप्रसिद्धार्थको हिशब्दः । शङ्कासमाप्तिद्योतक इतिशब्दः । शङ्कोत्तरत्वेन वाक्यं योजयति—नैवदिति । एतत्प्राणाद्यपमच्छरीरस्य हतबलत्वम् । प्राणेनापानेन वा न जीवति चेच्चक्षुरादिना जीविष्यतीत्याशङ्क्य तये ग्रहणमुपलक्षणार्थमित्याह—चक्षुरादिनेति । न जीवतीतित्र हेतुमाह—न हीति । संहत्य मिलित्वा कारित्वात्कार्यजनकत्वाच्चैतन्यसंबन्धमन्तरेण न जीवनहेतुत्वसंभव इत्यर्थः । जीव प्राणधारण इति धातुस्मरणाच्छरीरस्य जीवनं नाम प्राणधारणं तत्संयोगश्च धारणं कुण्डे दधिधारणवत्तत्र प्राणस्यैव हेतुत्वं, कथमुच्यते जीवनहेतुत्वं प्राणादीनां न संभवतीति तत्राऽऽह—स्वार्थेनेति । स्वप्रयोजनोद्देशेनेत्यर्थः । असंहतेन प्र(गृ)हपदार्थाप्रविष्टेन । संहतानां संघातापत्तिप्राप्तानाम् । दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । काश्चित्कस्य प्राणशरीरसंयोगस्य स्वभावतोऽनुपपत्तेः संघातस्य च लोके परप्रयुक्तस्य दर्शनं भ्रवितव्यमन्येन संघातस्य प्रयोजकेनेत्यर्थः । अत इति संहतत्वं परामृश्यते । उपाश्रितपदस्यार्थकथनपूर्वकं तात्पर्यार्थमाह—अस्येति । संहतः सन्प्राणापानादिरित्यन्यथः ॥ ९ ॥

१ ख. ज. 'वा मनु' । २ ग. 'ति। न ह्ये' । ३ क. 'ष्टं यथा गृ' । ४ ग. ड. च. झ. ञ. ट. 'स्वार्थे प्रा' । ५ क. ज. 'दिः सर्वव्या' । ६ ख. स्वत्वव्या' । झ. ज. ट. स्वस्वव्या' । ७ झ. ञ. ट. असंहतः ।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

हन्तेदानीं पुनरपि ते तुभ्यमिदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरंतनं प्रवक्ष्यामि । यद्विज्ञानात्सर्वसंसारोपरमो भवति, अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य यथाऽऽत्मा भवति यथा संसरति तथा शृणु हे गौतम ॥६॥

आ० टी०—येयं प्रेत इति प्रष्टुः परलोकेऽस्तित्वेऽपि संदेह आसीद्विशेषतस्तन्निवृत्त्यर्थमुच्यते इत्याह—हन्तेदानीमिति ॥ ६ ॥

गो० टी०—येयं प्रेत इति प्रष्टुः परलोकास्तित्वेऽपि संदेह आसीत् । विशेषतस्तन्निवृत्त्यर्थमुच्यते इत्याह—हन्तेदानीमिति । जीवः संसरतीत्यर्थे चशब्दार्थं हेतुं व्याचष्टे—यद्विज्ञानादिति । यस्याविज्ञानादिति संबन्धः ॥ ६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तोऽन्ये केचिदविद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनो देहवन्तः, योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः । स्थाणुं वृक्षादिस्थावरभावमन्येऽत्यन्ताधमा मरणं प्राप्यानुसंयन्त्यनुगच्छन्ति । यथाकर्म यद्यस्य कर्म तद्यथाकर्म यैर्यादृशं कर्मैव जन्मनि कृतं तद्व्येनेत्येतत् । तथा च यथाश्रुतं यादृशं च विज्ञानमुपाजितं तदनुरूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्ति इत्यर्थः । यथाप्रज्ञं हि संभवा इति श्रुत्यन्तरात् ॥ ७ ॥

आ० टी०—॥ ७ ॥

गो० टी०—अविद्यावत्त्वादविवेकिन इत्याह—मूढा इति । देहिन इति विशेषणादसकृद्देहग्रहणं तत्प्रापककर्मानुष्ठानं च सूच्यते । तात्पर्यार्थमाह—योनिमिति । अत्यन्ताधमा इति महापातकिनो गृह्यन्ते । अनुगच्छन्तीति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । उक्तमर्थं स्पष्टयति—यैरिति । विज्ञानमुपासनं नमस्त्रीदर्शनादि च । यथाविज्ञानं शरीरग्रहणे प्रमाणमाह—यथेति । प्रज्ञामनतिक्रम्य यथाप्रज्ञम् । संभवत्युत्पद्यन्ति इति संभवाः प्रजा इति शेषः ॥ ७ ॥

१ ग. घ. च. 'ह्यं ब्रह्म गोप्यं स' । २ क. ख. ज. यथा चाऽऽत्मा । ३ घ. 'ति सं' । ४ ग. घ. मूढा अवप' । ५ च. 'द्यन्तेऽवपद्यन्ते श' । ६ ट. तत्तथा' । ७ घ. कर्म ज' ।

यत्प्रतिज्ञातं गुणं ब्रह्मं वक्ष्यामीति तदाह—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मि-  
माणः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।  
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।  
एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति । कथम् । कामं कामं तं  
तमभिप्रेतं स्वप्नार्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयञ्जागर्ति पुरुषो यस्त-  
देव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं तद्ब्रह्म नान्यद्गुह्यं ब्रह्मास्ति । तदेवामृतमविनाश्यु-  
च्यते सर्वशास्त्रेषु । किंच पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मण्या-  
श्रिताः सर्वलोककारणत्वात्तस्य । तदु नात्येति कश्चनेत्यादि पूर्ववदेव ॥ ८ ॥

आ० टी०—॥ ८ ॥

गो० टी०—प्रसङ्गादागतं परिसमाप्य प्रकृतप्रतिपादनपरमुत्तरं वाक्यमित्यह—  
यत्प्रतिज्ञातमिति । सुप्तेषु प्रलीनेषु प्राणेष्व(प्राणादिष्व)न्तःकरणव्यतिरिक्तेषु । अन्य-  
था साक्षिणः संनिधिमात्रेण कामाद्याकारपरिणाम्यन्तःकरणभरणानुपपत्तेरिति । कामस्त-  
इति कामस्तम् । अविद्यया निद्रान्तःकरणरूपेणाभिव्यक्त्या । य इत्यन्वयार्थं पुनरु-  
च्यते । तद्ब्रह्मेत्यत्रैवकारानुषङ्गं सिद्धवत्कृत्य व्यावर्त्यमाह—नान्यदिति । स्वप्नावस्था-  
यामतिस्फुटं साक्षिणः सकाशादन्यद्भिन्नं गुह्यं गोप्यतमं ब्रह्म परिवृढं नास्तीत्यर्थः ।  
तद्ब्रह्माविनाशानि कोच्यत इत्याकाङ्क्षायामाह—सर्वेति । सर्ववेदोष्वित्यर्थः ।  
मूरादिलोकानां प्रकृतब्रह्माश्रितत्वे हेतुमाह—सर्वलोकैति । पूर्ववदिति । तदेतत्सर्वा-  
त्मकं ब्रह्म, उ एव नात्येति नातिक्रामतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अनेकतार्किककुँबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नमप्यात्मै-  
कत्वविज्ञानमसकृदुच्यमानं मध्यनृजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि नाऽऽ-  
धीयत इति तत्प्रतिपादन आदरवती पुनः पुनराह श्रुतिः—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।  
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो  
बहिश्च ॥ ९ ॥

१ क. ख. ह्य 'प्रवक्ष्यामि त' । २ क. 'रुपस्त' । ३ क. ख. ग. घ. ङ. ज. ट. ठ. 'कबु-  
द्धिवा' । ४ घ. 'नमृजु' । ५ क. ख. ज. 'ती श्रुतिः पुनः पुनराह । अ' ।

अप्रिथयैक एव प्रकाशात्मा सन्भुवनं भवन्त्यास्मिन्भूतानीति भुवन-  
मयं लोकास्तमिमं प्रविष्टोऽनुभविष्टः । रूपं रूपं दार्वादिदाह्यभेदं  
प्रतीत्यर्थः । प्रतिरूपस्तत्र तत्र प्रतिरूपवान्दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव ।  
एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानामभ्यन्तर आत्माऽति-  
सूक्ष्मत्वादार्वादिष्विव सर्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात्प्रतिरूपो बभूव बहिश्च  
स्वेनाविकृतेन [ स्व ] रूपेणोऽऽकाशवत् ॥ ९ ॥

आ० टी०—जन्ममरणकरणानां प्रति[प्राणि]नियमाद्युगपत्प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं  
सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चेति नानात्मानो व्यवस्थिता इत्यनेकतार्किकबुद्धिविरोधात्सर्वपुर-  
वर्त्येक एवाऽऽत्मेत्यत्र न चित्तस्यैर्यं संभवतीत्याशङ्क्यौपाधिकभेदसाधने सिद्धसाधनं  
स्वाभाविकभेदसाधने चानैकान्तिकत्वं दर्शयितुं प्रक्रमत इत्याह—अनेकतार्किके-  
त्यादिना । प्रतिरूप उपाधिसदृशश्चतुष्कोणत्वादिधर्मके हि दारुणि तद्रूपे वह्निरपि  
लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

गो० टी०—ननु जन्ममरणकरणानां प्रतिप्राणिनियमाद्युगपत्तेषामप्रवृत्तेश्च पुरुषब-  
हुत्वं सिद्धं सत्त्वरजस्तमोगुणानां वैपरित्याच्च नानात्मानो व्यवस्थिता इत्यनेकता-  
र्किकबुद्धिविरोधात्सर्वपुरवर्त्येक आत्मेत्यत्र न चित्तस्यैर्यं संभवतीत्याशङ्क्यौपाधिक-  
भेदसाधने सिद्धसाधनत्वं स्वभावभेदसाधने चानैकान्तिकत्वं दर्शयितुं प्रक्रमत इत्याह—  
अनेकतार्किकेत्यादिना । अनेके कुतार्किकाः परीखण्डाश्च तर्कागमावष्टम्भास्तदधीना  
या बुद्धिस्तयाऽऽकलितमाकुलितमन्तःकरणं येषां ते तथा तेषामित्यर्थः । अनेकतार्किक-  
बुद्धिविचालितान्तःकरणानामिति पाठे तार्किका एव कुबुद्धयस्तैः स्वमनोपन्यासादिना  
विचालितं श्रेयोमार्गादन्तःकरणं येषां ते तथा तेषामित्यर्थः । प्रमाणोपपन्नं तत्त्वमस्या-  
दिवाक्यप्रतिपाद्यम् । प्रत्यग्रह्यैक्यरूपविज्ञानमात्मैकत्वविज्ञानम् । प्रमाणेऽभ्यासादिलि-  
ङ्गसाहित्यं दर्शयति—असकृदिति । अनृजुबुद्धीनामिति पूर्वषष्ठ्यर्थे हेतुः । नाऽऽ-  
धीयते सम्यग्विज्ञानात्मकवृत्त्यारूढं न भवतीत्यर्थः । ऋजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसी-  
वेति पाठो व्यक्तिरेकदृष्टान्तार्थः । तत्प्रतिपादने विज्ञप्तिस्वभावप्रत्यग्रह्यप्रतिपादने ।  
आदरवती तात्पर्यवती । \* दाह्यभेदं काष्ठादिविशेषम् । प्रतिरूप इति उपाधिरूपेण  
प्रतीयमानः, चतुष्कोणत्वादिधर्मके हि दारुणि तद्रूपे वह्निरपि लक्ष्यत इत्यर्थः । तत्र तत्र

\* भाष्ये दार्वादिदाह्यभेदमित्यत्र दाह्यभेदमित्येतत्पाठानुरोधेनेदम् । तथा पाठोऽपि स्यात्क-  
चिदित्यनुमीयते ।

१ च. 'ष्टः । रूपं प्र' । २ च 'रूपः, तत्र प्र' । ३ ग. घ. ङ. च. झ. ञ. 'दे बभू' । ४  
क. ख. ज. 'त्मा रूपं रूपं स' । ५ ङ. ट. ठ. 'णावसन् । ६ ठ. पाषण्डा' ।

दर्शौ दाह्यमेदेन दार्वादिविशेषेण । दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—एक एवेति ।  
अभ्यन्तरत्वेऽतिसूक्ष्मत्वं हेतुः । सदृष्टान्तं रूपं रूपमित्यादि व्याचष्टे—दार्वादिष्वि-  
त्यादिना । रूपं रूपमित्यस्य सर्वदेहमिति व्याख्यानम् । विकारे प्रविष्टस्य विकृ-  
तेमाशङ्क्य बहिश्चेति पदेन परिहार इत्याह—बहिश्चेति । स्वेनाविकृतेन स्वरूपे-  
गासंपृष्टस्वरूपेणेत्यर्थः ॥ ९ ॥

तथाऽन्यो दृष्टान्तः—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।  
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो  
बहिश्च ॥ १० ॥

वायुर्यथैक इत्यादि । प्राणात्मना देहेष्वनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो  
बभूवेति त ( वेत्यादि स ) मानम् ॥ १० ॥

अ० टी०— ॥ १० ॥

गो० टी०—वायोरस्मिँलोके कथं प्रवेशो दार्वादिष्वनुपलम्भादित्याशङ्क्य ऽह—  
प्राणात्मनेति । इत्यादि समानमिति । एकस्तथेत्यादिवाक्यव्याख्यानं पूर्ववदि-  
त्यर्थः ॥ १० ॥

एकस्य सर्वात्मत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव तदिति प्राप्तमत इत्मुच्यते—  
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्वा-  
ह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते  
लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

सूर्यो यथा चक्षुष आलोकेनोपकारं कुर्वन्मूत्रपुरीषाद्यशुचिप्रकाशनेन  
तद्वर्णिनः सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन्न लिप्यते चाक्षुषैरशुच्यादिदर्शन-  
निमित्तेराध्यात्मिकैः पापदोषैर्बाह्यैश्चाशुच्यादिसंसर्गदोषैः । एकः संस्तथा  
सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः । लोको ह्यविद्यया  
स्वात्मन्यध्यस्तथा कामकर्मोद्भवं दुःखमनुभवति । न तु सा परमार्थतः  
स्वात्मनि । यथा रज्जुशुक्तिकौखरगगनेषु । सर्परजतोदकमलानि न  
रज्ज्वादीनां स्वतो दोषरूपाणि सन्ति । संसर्गिणि विपरीतबुद्धयध्या-  
सनिमित्तास्तदोषवद्विभाक्त्वे । न तदोषैस्तेषां लेपो विपरीतबुद्धयध्या-

१ क. ख. ज. 'त्मकत्वे । २ ग. घ. च. 'खित्वे प' । ३ ख ग. घ. ङ. च. छ. झ. न. ट.  
गस इ' । ४ क. न. झ. 'कोषर' । ५ ग. 'रीते बुद्धयध्यासनिमित्तत्वात्' । ६ ख. 'ध्यासे विप-  
रित्त्वात्' । ७ क. च. न. 'मित्तत्वात् । ८ ख. ग. घ. च. 'षां लोपो ।

सबाह्या हि ते । तद्यऽऽत्मनि सर्वो लोकः क्रियाकारकफलात्मकं  
विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तं जन्मपर्रणादिदुःख-  
मनुभवति न त्वात्मा सर्वलोकात्माऽपि सन्विपरीताध्यारोपनिमित्तेन  
लिप्यते लोकदुःखेन । कुतः । बाह्याः । रज्ज्वादिबदेव विपरीतबुद्धय-  
ध्यासबाह्यो हि स इति ॥ ११ ॥

आ० टी०— परमात्मा दुःखी स्याद्दुःखा(रुय)भिन्नत्वाल्लोकवदित्याह— एकस्य  
सर्वात्मकत्व इति । अविद्यायां प्रतिबिम्बितश्चिद्धातुरज्ञो भ्रान्तो भवति । भ्रान्तश्च  
कामादिदोषप्रयुक्तः कर्म कुरुते तन्निमित्तं च दुःखं स्वात्मन्यध्यवस्यति । परमात्मा तु  
निरविद्यत्वादुःखसाधनशून्यत्वान्न दुःखी ततो न प्रयोजको हेतुरित्याह—लोको  
ह्यविद्ययेति । स्वरूपेण भ्रमाविषयत्वं विपरीतबुद्धयध्यासबाह्यत्वं रज्ज्वादीनां तथा  
चैतन्यस्यापाधिस्वरूपेणाध्यासाश्रयत्वे पि निरुपाधिकबिम्बकल्पब्रह्मरूपेणाध्यासा-  
नाश्रयत्वान्न दुःखित्वप्राप्तिरित्यर्थः ॥ ११ ॥

गो० टी०— ननु परमात्मा दुःखी स्याद्दुःख्यभिन्नत्वाल्लोकवदित्याह— एकस्य  
सर्वात्मत्व इति । तमेव परमात्मानमेव । परस्यैवेत्यापि पाठः । इदमुच्यते दृष्टान्तपूर्-  
वकमुत्तरमुच्यते । अविद्यायां प्रतिबिम्बितश्चिद्धातुरज्ञो भ्रान्तो भवति भ्रान्तश्च कामा-  
दिदोषप्रयुक्तः कर्म कुरुते तन्निमित्तं च दुःखं स्वात्मन्यध्यवस्यति, परमात्मा तु निर-  
विद्यत्वादुःखसाधनशून्यत्वान्न दुःखी ततोऽप्रयोजको हेतुरित्याह—लोको ह्यविद्य-  
येति । स्वरूपेण भ्रमाविषयत्वं विपरीतबुद्धयध्यासबाह्यत्वं रज्ज्वादीनां यथा तथा  
चैतन्यस्याप्युपाधिस्थितारूपेणाध्यासाश्रयत्वेऽपि निरुपाधिकबिम्बकल्पब्रह्मरूपेणाध्यासा-  
नाश्रयत्वान्न दुःखित्वप्राप्तिरित्यर्थः । विपरीतबुद्धयारोपनिमित्तेन लोकदुःखेन न लि-  
प्यत इत्यन्वयः । तत्राऽकाङ्क्षापूर्वकं हेतुमाह—कुत इत्यादिना । इति यस्मात्तस्मान्न  
लिप्यत इत्यन्वयः ॥ ११ ॥

किंच—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः  
करोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं  
शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत्समोऽभ्यधिको वाऽ-  
न्योऽस्ति । वशी सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते । कुतः । सर्वभूतान्तरात्मा ।

१ क. 'न्मजराम' । २ क. झ. ङ. ट. 'रणदुः' । ३ क. बाह्यो बहिष्कृतो बाह्यो र' झ.  
झ. ट. बाह्यर' । ४ क. झ. ङ. हि सः ॥ ११ ॥

यत एकमेव सदेकरसमात्मानं विशुद्धविज्ञानरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधि-  
भेदबन्धेन बहुधाऽनेकप्रकारं यः करोति स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्यशक्ति-  
त्वात् । तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेणाभिव्यक्त-  
मित्येतत् । न हि शरीरस्याऽऽधारत्वमात्मनः । आकाशवदभूतत्वात् ।  
आदर्शस्थं मुखमिति यद्वत् । तमेतमीश्वरमात्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयोऽ-  
नुपश्यन्ति आचार्यागमोपदेशमनु साक्षादनुभवन्ति धीरा विवेकिनस्तेषां  
परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखमात्मानन्दलक्षणं भवति नेतरेषां  
बाह्यसक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमप्यविद्याव्यवधानात् ॥ १२ ॥

आ० टी० — परोत्कर्षदर्शनं पारतन्त्र्यं च स्वस्य हीनत्वं दुःखकारणं प्रसिद्धं  
तदभावान्न परमात्मा दुःखी ततस्तत्प्राप्तिः परः पुरुषार्थो भविष्यतीत्याह—किं च  
स हीत्यादिना ॥ १२ ॥

गो० टी० — स्वापेक्षया परस्योत्कर्षदर्शनं पारतन्त्र्यं च स्वस्य हीनत्वं दुःखकारणं  
प्रसिद्धं लोके तदभावान्न परमात्मा दुःखी ततस्तत्प्राप्तिः परमपुरुषार्थो भविष्यती-  
त्याह—किं च स हीत्यादिना । हिशब्दो न तत्समश्च भ्यधिकश्च दृश्यत इति-  
श्रुतिप्रसिद्धत्वद्योतनार्थः । वशित्वे हेतुमाह—कुत इत्यादिना । अन्तरात्मत्वे हेतु-  
त्वेनोत्तरवाक्यं व्याचष्टे—यत इत्यादिना । स्वात्मसत्तामात्रेणोपाधिभेदमादाय बहु-  
धाकरणे हेतुमाह—अचिन्त्येति । यत एवं करोत्यतः सर्वभूतान्तरा-मा यस्तमि-  
त्यन्वयः । नन्वात्मशब्दः शरीरवाच्यप्यतस्तत्सत्त्वं किमिति न व्याख्यायत इत्यत  
आह—न हीति । तर्हि तत्स्थत्वव्यवहारः कथमित्याशङ्क्याऽऽदर्शे प्रतीतिमात्रे-  
णाऽऽदर्शस्थमुखमिति वच्छरीरस्थ इत्युपचर्यत इत्याह—आदर्शस्थमित्यादिना ।  
तमात्मस्थमिति तत्त्वंपदयोः सामानाधिकरण्यादिक्यं विवाक्षित्वाऽऽह—त[ भेत ]-  
मीश्वरमात्मानमिति । निवृत्तां बाह्येभ्यो विषयेभ्यो ह( वृत्तिर्ह ) छिद्येषां ते  
तथा । उपाधिबहुत्वाभिप्रायेण बहुवचनं नाऽऽत्मापेक्षयेत्याह—परमेश्वरभूताना-  
मिति । बाह्यासक्तबुद्धीनां बाह्येषु विषयेष्वासक्ता बुद्धिर्द्येषां तेषाम् । स्वात्मभूतम-  
पीति । सुखमित्यनुवर्तते । अविदुषामात्मभूतं सुखं नेत्यत्र हेतुमाह—अविद्याव्य-  
वधानादिति ॥ १२ ॥

किंच--

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहुनां यो

१ क. घ. सदेकं । २ क. 'हुधा बहुप्रकारेण यः । ख. ज. 'हुधा बहुप्रकारं यः । ३ क. ड.  
झ. ञ. ट. शस्थमु' । ४ ग. घ. च. 'श्वरात्मा' । ५ ख. छ. झ. ञ. नित्यो नि' ।

विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-  
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥

नित्योऽविनाश्यनिर्घातानां विनाशिनाम् । चेतनश्चेतनानां चेतयितृणां  
ब्रह्मादीनां प्राणिनामग्निनिमित्तमिव दाहकत्वमनग्नीनामुदकादीनामात्म-  
चेतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषाम् । किंच स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः  
कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं कामान्कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च  
कामान् एको बहूनामनेकेषामनायासेन विदधाति<sup>१</sup> प्रयच्छतीत्येतत् ।  
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिरुपरतिः शाश्वती नित्या  
स्वात्मभूतैव स्यात्तेतरेषामनेवंविधानाम् ॥ १३ ॥

आ० टी०—इदानीं परमात्मन्युपपत्तिप्रदर्शनार्थमाह—किंच नित्य इति ।  
सूर्यचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदित्यादिश्रुतेरकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसङ्गपरि-  
हाराच्च कल्पान्तरीयभावानां प्रलीनानां कल्पान्तरे सजातीयरूपेणोत्पादः प्रतीयते स  
तदा स्याद्यदि विनाशिनां भावानां शक्तिशेषो लयः स्यात् । ततः प्रलये विनश्यत्सर्वं  
यत्र शक्तिशेषं विलीयते सोऽभ्युपगन्तव्य इत्यर्थः । बुद्धिमतामपि ब्रह्मेन्द्रादीनां पर-  
मानन्दशक्तिमुख्यं हित्वा या बहिर्मुखा चेतनोपलभ्यते साऽपि नियन्तारं गमयतीत्याह—  
चेतनश्चेतनानामिति । ब्रह्मादिशब्दवाच्यानां संघातानां वा चेतयितृत्वं यच्चैतन्यनि-  
मित्तं सोऽस्ति पर आत्मेत्यर्थः । विमतं कर्मफलं तत्स्वरूपाद्यभिज्ञेन दीयमानं व्यव-  
हितफलत्वात्सेवाफलवदित्याह—किंच स इति ॥ १३ ॥

गो० टी०—इदानीं परमात्मन्युपपत्तिप्रदर्शनार्थमाह—किंचिति । सूर्यचन्द्रमसौ  
धाता यथापूर्वमकल्पयदितिश्रुतेरकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसङ्गपरिहाराय च कल्पान्तरी-  
यभावानां प्रलीनानां कल्पान्तरे सजातीयरूपेणोत्पादः प्रतीयते<sup>२</sup> तदा स्याद्यदि विना-  
शिनां भावानां शक्तिशेषो लयः स्यात्ततः प्रलये विनश्यत्सर्वं यत्र शक्तिशेषं विलीयते  
सोऽभ्युपगन्तव्य इत्यनि यानां नित्य इत्यस्यार्थः । बुद्धिमतामपि ब्रह्मेन्द्रादीनां परमानन्द-  
शक्तिमुख्यं हित्वा बहिर्मुखा चेतनोपलभ्यते साऽपि नियन्तारं गमयतीत्याह—चेतनश्चेतन-  
नामिति । अनग्नीनामुदकादीनामग्निनिमित्तं दाहकत्वं यथा तथाऽन्येषां ब्रह्मादीनां प्राणि-  
नामात्मचेतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमित्यन्वयः । ब्रह्मादिसंघातानां चेतयितृत्वं यच्चैतन्य-  
निमित्तं सोऽस्ति परमात्मेत्यर्थः । विस्तृतं कर्मफलं कर्मस्वरूपाद्यभिज्ञेन दीयमानं चेतयितृ-  
त्वमिति

१ ख. घ. ज. 'स्थानामवश्याना' । ग. 'त्यानाम् । चे' । २ क. ख. ज. स सर्वेश्वरः सर्वशः  
का' । ३ क. ख. इ. ज. 'ति ददाति प्र' ।



इति व्यवहितफलत्वात्सेवाफलत्वादित्याह—किंच [स] सर्वज्ञ इति । ननु कर्म-  
वशादेव तत्फलसिद्धेरीश्वरोऽकिंचित्कर इत्यत आह—स्वानुग्रहेति । कर्मणामीश्वर-  
प्रसादद्वारा फलहेतुत्वान्न दोष इति भावः ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् । कथं नु  
तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

यत्तदात्मविज्ञानं सुखमनिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं परमं प्रकृतं प्राकृतपुरु-  
षवाङ्मनसघोरगोचरमपि सन्निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणास्ते<sup>x</sup> यत्तदेतत्प्रत्य-  
क्षमेवेति मन्यन्ते, कथं नु केन प्रकारेण तत्सुखमहं विजानीयाम् । इद-  
मित्यात्मबुद्धिविषयमापादयेयं यथा निवृत्तैषणा यतयः । किमु तद्भाति  
दीप्यते प्रकाशात्मकं तद्यतोऽस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते  
किंवा नेति ॥ १४ ॥

आ० टी०—विद्वदनुभवोऽपि परमानन्दे प्रमाणमित्याह—यत्तदात्मविज्ञान-  
मिति । तस्मादसंभाविततया न जिहासितव्यं परमात्मदर्शनं किंतु श्रद्धानतया वि-  
चारयितव्यमेवेत्याह—कथं न्विति ॥ १४ ॥

गो० टी०—विद्वदनुभावोऽपि परमानन्दे प्रमाणमित्याह—यत्तदात्मविज्ञान-  
मिति । तदात्मसुखं परम[म]निर्देश्यमप्येतदिति मन्यन्त इत्यन्वयः । के त इत्याका-  
ङ्क्षायासाह—निवृत्तेति । त इति पदमध्याहर्तव्यम् । एतदित्यस्य प्रत्यक्षमेवेति व्या-  
ख्यानम् । विद्वत्प्रत्यक्षत्वादात्मसुखस्यासंभाविततया न जिहासितव्यं परमात्मदर्शनं  
किंतु श्रद्धानतया विचारयितव्यमेवेत्याह—कथं न्विति । यथा निवृत्तैषणा यतयो  
वेचारेणाऽऽत्मबुद्धिविषयात्मसुखमापादयन्ति तद्वदात्मसुखमात्मबुद्धिविषयं कथमापा-  
दयेयमिति विचारयितव्यमित्यर्थः । ननु वाङ्मनसातीतस्यासंभावितत्वेन प्रकाशमानत्वा-  
भावात्कथं बुद्धचारोह इति शङ्कते—किं न्विति । उ इति वितर्के । यत इति यदि यथा ।  
यत्प्रकाशात्मकमात्मज्योतिस्तदस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विस्पष्टं दृश्यते किमित्यन्वयः ।  
वाशब्दं व्याचष्टे—नेति । अथवा यतः प्रकाशात्मकं तदात्मज्योतिरतोऽस्मद्बुद्धिवि-  
षयत्वेन विस्पष्टं दृश्यते किमिति संबन्धः । वाशब्दं व्याचष्टे—किंवा नेति ॥ १४ ॥

x अत्र टीकानुरोधेन त इति पदमाधिकम् ।

१ ख. ज. 'मु तद्भाति । २ छ. 'ति न भा' । ३ ग. घ. ङ. च. ज. झ. ञ. ट. ठ. 'ज्ञानसु' ।  
क. ख. अ. 'स्ते तदे' । ५ ज. झ. ञ. 'तोऽतोऽस्म' । ६ क. ख. च. ज. 'ति ॥१४॥१३' ।

अत्रोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति । कथम्—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो  
भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तनुभाति सर्वं  
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये द्वितीया वल्ली

समाप्ता ॥ २ ॥ ( ५ ) ।

न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति  
तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः । तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति  
कुतोऽयमग्निर्दृष्टिगोचरोऽग्निः । किं बहुना यदिदमादिकं सर्वं भाति  
तत्तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते । यथा जलोलमुक्ताद्य-  
ग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनु दहति न स्वतस्तद्वत् । तस्यैव भासा दीप्या  
सर्वमिदं सूर्यादि विभाति । यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च ।  
कार्यगतेन विविधेन(?) भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते ।  
न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम् । घटादीनामन्यावभा-  
सकत्वाददर्शनाद्भासनरूपानां चाऽऽदीत्यादीनां तद्दर्शनात् ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदा-  
चार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये  
द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥ ( ५ ) ।

आ० टी०—॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानवि-  
चिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्ली.

भाष्यटीका समाप्ता ॥ २ ॥ ( ५ ) ।

गो० टी०—इदंशब्दव्याख्यानं भातीत्यादि । कुत इति । अल्पवीर्यत्वादित्यर्थः ।  
जलं तप्तजलमुष्णमुष्णमलातं तदादीत्यादिशब्देनायःपिण्डादि गृह्यते । ननु प्रकाशावि-  
शिष्टघटादेः स्ववृत्तिघटादिप्रकाशकत्वं दृष्टं तद्वदन्याधीनप्रकाशस्य ब्रह्मणः सूर्यादिप्रका-  
शत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । अविद्यमानेति पदच्छेदः । प्राप्ताप्रसविवे-

प्रकाशस्यैव भासकात्वान्न स्वतो घटादेर्भासकत्वं तद्वदप्रकाशत्वे ब्रह्मणो नाऽऽदि-  
दिप्रकाशकत्वं स्यादिति भावः ॥ १९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्यवर्यश्रीमद्बालगोपालेन्द्रपतीश्वरविर-  
चिते काठकोपनिषद्भाष्याविवरणे द्वितीयाध्याये द्वितीया  
वल्ली समाप्ता ॥ २ ॥ ( ९ ) ।

तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथैवं संसार-  
कार्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावधिधारयिषथेयं षष्ठी  
बलुचारभ्यते—

ऊर्ध्वमूलोऽवाकशाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।  
तदेव शुक्रं तद्वृक्षं तदेवामृतमुच्यते ॥ तस्मि-  
ल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।  
एतद्वै तत् ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमूल ऊर्ध्वं मूलं येत्तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्ता-  
दिस्थावरान्तः संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः । वृक्षश्च व्रश्चनात् । जन्मजरामरण-  
शोकाद्यनेकानर्थात्मकः प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्व-  
नगरादिवद्दृष्टनष्टस्वरूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भ-  
घन्निःसागेऽनेकशतपांखण्डबुद्धिविकल्पास्पदस्तत्त्वविजिज्ञासुंभिरनिर्धा-  
रितेदंतत्त्वो वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारोऽविद्याकामकर्माव्यक्तबीज-  
प्रभवोऽपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणि-  
लिङ्गभेदस्कन्धतृष्णाजलासेकोद्भूतदर्पो बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः  
श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशो यज्ञदानतपआद्यनेकक्रियासुषुप्पः सु-  
खदुःखवेदनानेकरसः प्राण्युपजीव्यानन्तफलस्तत्तृष्णासलिलावसेकपरु-  
ढजडीकृतदृढवद्धमूलः सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादिभूतर्पाक्षिकृतनीडः  
प्राणिसुखदुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीतवादित्रक्षेत्रलितास्फोटितहासिता-  
कृष्टरुदितहाहांमुश्चेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारवो वेदान्तवि-

१ ड. झ. ज. ट. 'णेन मू' । २ ड. झ. ज. ट. यद्वि' । ३ ग. घ. च. 'लः, वृक्ष' । ४ क.  
ग. ड. च. झ. ञ. ट. 'श्व वृक्ष' । ५ क. ग. च. ट. 'पाषण्ड' । ६ ड. झ. ज. ट. सुभिर्निर्धा' ।  
७ ड. 'प्रभावोऽ' । ८ क. ख. ज. ञ. ट. ठ. 'न्धस्तत्तृष्णा' । ९ ग. ड. च. ज. ञ.  
बु' । १० घ. झ. ञ. ट. 'स्तत्तृ' । ११ झ. ज. पक्षीक' । १२ ड. ठ. 'हामुश्चे' ।

हितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गं शस्त्रकृतोच्छेद एष संसारवृक्षोऽश्वत्थोऽश्वत्थव-  
त्कामकर्मवातेरितनित्यप्रचलितस्वभावः । स्वर्गनरकार्तिर्यक्पेतादिभिः  
षाखाभिरषाकशाखः । सनातनोऽनादित्वाच्चिरं प्रवृत्तः । यदस्य संसा-  
रवृक्षस्य मूलं तदेवं शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मच्चैतन्वात्मज्योतिःस्वभावं  
तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात् । तदेवामृतमविनाशस्वभावमुच्यते कथ्यते  
सत्यत्वात् । वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयमनृतमन्यदतो मर्त्यम् ।  
तस्मिन्परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगरमरीच्युदकमायासमाः  
परमार्थदर्शनाभावावर्गमनाः श्रिता आश्रिताः सर्वे समस्ता उत्पत्ति-  
स्थितिलयेषु । तद्दु तद्ब्रह्म नात्येति नातिवर्तते मृदादिमिव घटादिकार्थ  
कथन कश्चिदपि विकारः । एतद्वै तत् ॥ १ ॥

आ० टी०—शास्त्रमल्यादितूलदर्शनेनादृष्टमपि वृक्षमूलं यथाऽस्तीत्यवधार्यते तद्व-  
ददृष्टस्यापि ब्रह्मणोऽवधारणाय प्रक्रमत इत्याह—तूलावधारणेनेति । वृक्षशब्दे  
प्रवृत्तिनिमित्तमाह—व्रश्चनादिति । ' व्रश्चू छेदने ' अस्य धातोः सप्रत्ययान्तस्य रूपं  
वृक्ष इति । छेद्यत्वे युक्तिमाह—जन्मजरेत्यादिना । प्रसिद्धवृक्षसाम्याद्वा वृक्षशब्द-  
प्रयोग इत्यामिप्रेत्याऽऽह—अवसाने चेत्यादिना । प्रसिद्धो वृक्षः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति  
विकल्पास्पदो दृष्टस्तथाऽयमपि संघातो वा परिणामो वाऽऽरब्धो वा सद्वाऽसद्वेत्यादीना-  
मनेकेषां शतसंख्याकपाखण्डबुद्धिविकल्पानां विषय इत्यर्थः । किंसंज्ञकोऽयं वृक्ष  
इत्यनध्यवसायगोचरः कश्चिद्वृक्षो दृष्टस्तथाऽयमपीति साम्यम् । साम्यान्तरमाह—  
तत्त्वविजिज्ञासुभिरिति । अपरब्रह्मणो विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मको हिरण्यगर्भः  
प्रथमोऽवस्थामेदोऽङ्कुरोऽस्येति तथोक्तः । बुद्धीन्द्रियाणां विषयाः शब्दादयः प्रवाल कुगाः  
किसलयान्यस्येति स तथोक्तः । श्रुत्यादीनि पलाशानि पत्राण्यस्येति । सुखदुःखे  
प्राणिवेदना एवानेको रसोऽस्येति । फलतृणैव सलिलावसेकस्तेन प्ररूढानि कर्मवास-  
नादीनि सात्त्विकादिभावेन मिश्रीकृतानि दृढबन्धनान्यवान्तरमूलान्यस्य वटवृक्षस्येव  
तथोक्तः । सत्यनामादिषु सप्तलोकेषु ब्रह्मादीनि भूतान्येव पक्षिणस्तैः कृतं नीडं यस्मिन् ।  
प्राणिनां सुखदुःखाभ्यामुद्भूतौ हर्षशोकौ ताभ्यां यथासंख्येन जातानि नृत्यादीनि  
रुदितादिशब्दाश्चैतैः कृतस्तुमुलीभूतो महारवो यस्मिन्निति विग्रहः ॥ १ ॥

१ क. 'ना कृतशास्त्रोच्छे' । २ क. ट. 'द्गशास्त्र' । ३ क. क. च. ज. झ. ट. ठ. 'च्चिरप्र' ।  
४ झ. झ. ठ. 'शुक्रं शु' । ५ घ. 'त् एवा' । ६ क. ख. ज. 'नाशिस्व' । ७ ग. घ. क. च. 'तेऽ-  
स' । ८ क. 'गम्यमानाः । ट. 'गमाः श्रि' । ९ घ. 'ल्यादिषु । १० झ. तदेत' । ११ क. ग.  
ज. 'दादिकमिव । घ 'दादिवदृघटा' ।

गो० टी०—शास्त्रमस्यादितूलदर्शनाददृष्टमपि वृक्षमूलं यथाऽस्तीत्यवधार्यते तद्वददृष्ट-  
स्यापि ब्रह्मणोऽवधारणाय प्रक्रमत इत्याह—तूलावधारणेनेति । स्वरूपावधिधार-  
विषया स्वरूपानिश्चयेच्छया । स्वरूपावधारणविषयेति पाठे विषयशब्दो निमित्तवाची ।  
इयमान्तिमा वल्ली । ऊर्ध्वमित्युत्कृष्टमित्यर्थः । यद्विष्णोः परमं पदं तदस्य सोऽयमू-  
र्ध्वमूल इत्यन्वयः । इदंशब्दार्थं स्फुटयति—अव्यक्तादीति । अव्यक्तमज्ञातचैतन्य-  
मादिर्यस्य सोऽयं तथा । स्थावरो वृक्षादिरन्तरे यस्य सोऽयं तथा । स चसौ स चेति पुनः  
कर्मधारयः । संसर एव वृक्षः संसारवृक्षः । वृक्षशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाह—ब्रश्चनादिति ।  
अत्रश्चू छेदन इत्यस्य धानोः सप्रत्ययान्तस्य रूपं वृक्ष इति । छेद्यत्वे युक्तिमाह—  
जन्मजरेत्यादिना । क्वचिदवच्छिन्नजन्मजरेत्यादिपाठोऽप्यणकारैर्गृहीतः । जन्म च जरा  
च मरणं च शोकश्च त एवाऽऽदिर्येषां ते तथा । तेऽनेकेऽनर्था आत्मा स्वरूपं यस्य वृक्षस्य  
स तथा । अनेकानर्थात्मकत्वादेव प्रतिक्षणमन्यथास्वभावत्वं सात्त्विकराजसतामसवृत्ति-  
भेदेनेत्याह—प्रतिक्षणमिति । प्रतिक्षणमन्यथास्वभावत्वे दृष्टान्तमाह—मायेत्यादिना ।  
मायैन्द्रजालिकमाया । मायादिवत्प्रतिक्षणमन्यथास्वभावत्वे हेतुमाह—दृष्टेति । दृष्टं  
दर्शनं तत्समय एव प्रतीयते नोत्तरकालमित्यर्थः । अवयवार्थमाशय संसारो वृक्ष इत्यु-  
क्तम् । वृक्षसादृश्याद्वा वृक्षशब्दप्रयोगो भवति संसार इत्याह—अवसाने चेत्यादिना ।  
चशब्दः पक्षान्तरद्योतकः । प्रसिद्धो वृक्षः स्थाणुर्वा पुरुषो वेतिविकल्पास्पदो दृष्टः ।  
तथाऽयमपि संग्रानो वा परिणामो वाऽऽरब्धो वा न वेत्यादीनामनेकेषां शतसंख्याकपा-  
षण्डबुद्धिविकल्पानामास्पद(दो) विषय इत्यर्थः । किंसंज्ञकोऽयं वृक्ष इत्यनध्यवसायगोचरः  
कश्चिद्वृक्षो दृष्टस्तथाऽयमपीति साम्यान्तरमाह—तच्चविजिज्ञासुभिरिति । स्वतोऽ-  
सारत्वे संसारस्य किं तस्य सागमित्यपेक्षायामाह—वेदान्तेति । वेदनैर्निर्धारितं परं  
ब्रह्मैव मूलं सागो यस्य स तथा । अविद्याऽध्यासः कामकर्माण्यव्यक्तमज्ञातचैतन्यमेतानि  
बीजं तस्मात्प्रभव उत्पत्तिर्यस्य स तथा । अपरस्य ब्रह्मणो विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मको  
हिरण्यगर्भः प्रथमोऽवस्थाभेदोऽङ्कुरोऽस्येति तथोक्तः । सर्वेषां प्राणिनां लिङ्गशरीरवि-  
शेषास्त एव [स्कन्धाः] शाखापूलस्थानानि यस्य स तथोक्तः । तृष्णैव सलिलं तेन  
सेकः सेचनं तेनोद्भूतो दर्पो गर्व उच्छ्रायो यस्य स तथोक्तः । बुद्धीन्द्रियाणां ये  
विषयाः शब्दादयस्ते प्रवालाङ्कुराः किसलयान्यस्येति तथोक्तः । श्रुत्यादीनि पला-  
शानि पत्राण्यस्येति तथा । यज्ञदानाचारादीन्यनेकाः क्रिया एव शोभनानि पुष्पाण्य-  
स्येति तथा । क्वचिद्यज्ञदानतपआदीति पाठः । सुखदुःखे प्राणिवेदना एवानेको रसोऽ-  
स्येति तथा । प्राणिभिरुपजीव्यमनन्तत्वेन फलं यस्मिन्स तथा । फलतृष्णैव सलिलावसेक-  
स्तेन प्ररूढानि कर्मवासनादीनि जडीकृतानि सात्त्विकादिभावेन मिश्रीकृतानि दृढबद्धा-

न्यवान्तरमूलानि यस्येति स तथोक्तः । सत्यनामादिषु सप्तलोकेषु ब्रह्मादीनि भूतान्येव पक्षिणस्तैः कृतं नीडमास्पदं यस्मिन्स तथोक्तः । प्राणिनां सुखदुःखाम्यामुद्भूतौ हर्षशोकौ ताभ्यां यथासंख्येन जातानि नृत्यं च गीतं च गानं च वादित्रं च वाद्यसामान्यं क्ष्वेलितं च केलिविशेष आस्फोटितं च भुजाबन्धो हर्षितं चाऽऽमोदविशेषस्तज्जन्यपरहस्ताद्याकर्षणमाकृष्टं च तानि । तथा तानि च रुदितादयोऽनेके शब्दाश्च तैः कृतस्तुमुर्लीभूतो महारवो यस्मिन्स तथेति विग्रहः । आस्फोटहसितेत्यापि पाठः सुगमः । वेदान्तैस्तत्त्वमस्यादिभिर्विहितं जनितं यत्प्रत्यगभिन्नब्रह्मज्ञानं तदेवासङ्गशङ्खमप्रतिबध्यमानशस्त्रं तेन कृत उच्छेदो नाशो यस्य स तथोक्तः । अश्वत्थशब्दस्य संसारे गौणी वृत्तिमाह—अश्वत्थवदिति । कामकर्मणा एव वातस्तेनेरितो नित्यः प्रचलितः स्वभावो यस्य स तथोक्तः । तिर्यक्शुनकादिजन्म । प्रेतोऽनग्निसंस्कृताज्ञजन्तूनामवस्थाविशेष आन्तरालिकः । आदिशब्देन स्वेदजन्यादयो ग्राह्याः । तादृशैः शाखाभिरवाकशाखः । सनातनश्चिरं प्रवृत्त इत्यन्वयः । तत्र हेतुः—अनादित्वादिति । तदेवेत्यादिवाक्यमपेक्षितं पूर्यन्वयाचष्टे—यदिति । अविनाशस्वभावत्वे हेतुमाह—सत्यत्वादिति । प्रपञ्चस्य तद्वैपरीत्यमाह—वाचेत्यादिना । कदेत्यपेक्षायामाह—उत्पत्तीति ॥ १ ॥

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।

महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्युच्यते जगतो मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मासत् एवेदं निःसृतमिति तन्न । यदिदं किंच यत्किंचेदं जगत्सर्वं प्राणे पस्मिन्ब्रह्मणि सत्येजति कम्पते तत एव निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन चेष्टते । यदेवं जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तन्महद्भयम् । महच्च तद्भयं च विभेत्यस्मादिति महद्भयम् । वज्रमुद्यतमिव वज्रम् । यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनमभिमुखीभूतं दृष्ट्वा भूत्या नियमेन तच्छासने वर्तन्ते तथेदं चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रतारकादिलक्षणं जगत्सेश्वरं नियमेन क्षणमप्यविश्रान्तं वर्तत इत्युक्तं भवति । य एतद्विदुः स्वात्मपट्टितिसाक्षिभूतमेकं ब्रह्मामृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति ॥ २ ॥

आ० टी०—कार्यस्य शून्यतापर्यन्तं नष्टस्यासत्त्वपूर्वकमेव जन्म ततो नास्ति मूलमिति शङ्कते—यद्विज्ञानादिति । तन्न । शश विषाणादेरसतः समुत्पत्त्यदर्शनात्सत्पूर्व-

१ ग. घ. च. 'व सन्निर्ग' । २ क. घ. ड. झ. ञ. ट. ठ. 'देव ज' । ग. च. 'देवेदं ज' । ३ क. ख. ज. 'ने प्रव' ।

कत्वप्रसिद्धेश्चास्ति सद्रूपं वस्तु जगतो मूलं तच्च प्राणपदलक्ष्यं प्राणप्रवृत्तेरपि हेतुत्वा-  
दित्यर्थः ॥ २ ॥

गो० टी०—कार्यस्य शून्यपर्यन्तं नाशादसत्पूर्वकमेव जन्म ततो नास्ति मूलमिति  
शङ्कते—यद्विज्ञानादिति । परिहरति—तन्नेति । शशविषागादेरसत् उत्पत्त्यदर्शना-  
त्कार्यस्य सत्पूर्वकत्वप्रसिद्धेश्चास्ति सद्रूपं वस्तु जगतो मूलं तच्च प्राणपदलक्ष्यं प्राणवृ-  
त्तेरपि हेतुत्वादित्यर्थः । धात्वर्थं प्रकटयति—तत एवेति । नात्र वाक्येषु ब्रह्मणो विच्छे-  
दोऽस्तीत्यभिप्रेत्योत्तरं वाक्यं व्याचष्टे—यदेवमित्यादिना । उद्यतं वज्रमिव वज्रमुद्यतम् ।  
पदार्थमभिधाय तात्पर्यमाह—यथेत्यादिना । एतच्छब्दार्थमाह—स्वात्मेति । स्वसंब-  
न्धन्तःकरणप्रवृत्तीनां साक्षिभूतमित्यर्थः । य एतद्विदुस्तेऽमृता भवन्तीत्यन्वयः ॥२॥

कथं तद्भयाज्जगद्वर्तत इत्याह—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

भयाद्धीर्त्या परमेश्वरस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यो भयादिन्द्रश्च  
वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । न हीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां  
सतां नियन्ता चेद्वज्रोद्यतकरवन्न स्यात्स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां  
नियता प्रवृत्तिरूपपद्यते ॥ ३ ॥

आ० टी०—॥ ३ ॥

गो० टी०—सूर्यादीनां नियतप्रवृत्त्यनुपपत्त्या नियामकत्वेन संभावितं यत्पारमे-  
श्वरं रूपं तदवगमायेह यत्नः कर्तव्य इत्याकाङ्क्षापूर्वकमाह—कथं तदित्यादिना ।  
न हि नियता प्रवृत्तिरूपपद्यते इति संबन्धः ॥ ३ ॥

इह चेदशकद्धोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।

ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

तच्चैह जीवन्नेव चेद्यत्रशकच्छक्रोति शक्तः सञ्ज्ञानात्येतद्भयकारणं ब्रह्म  
बोद्धुमवगन्तुं प्राक्पूर्वं शरीरस्य विस्रसोऽवस्रंसनात्पतनात्संसारब-  
न्धनाद्विमुच्यते । न चेदशकद्धोद्धुं ततोऽनवबोधात्सर्गेषु सृज्यन्ते येषु  
स्रष्टव्याः प्राणिन इति सर्गाः पृथिव्यादयो लोकास्तेषु सर्गेषु लोकेषु

शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः ।  
तस्माच्छरीरविस्त्रंसनात्प्रागात्मबोधाय यत्न आस्थेयः ॥ ४ ॥

आ० टी०—सूर्गादीनां नियतप्रवृत्त्यनुपपत्त्या निशामकत्वेन संभावितं यत्पारमेश्वरं रूपं तदवगमायैवेह यत्नः कर्तव्य इत्याह—तच्चेति । इहैव बोद्धुं शक्त सन्नैहैव चेज्जानाति तदा मुच्यत एवेति संबन्धः ॥ ४ ॥

गो० टी०—तच्चेहैव बोद्धुं शक्तः सन्नैहैव चेज्जानाति तदा मुच्यत एवो संबन्धः । तत इत्यस्य व्याख्यानमनवबोधार्थेति । परमात्मावगमाय यत्नः कार्य इत्युक्तमुपसंहरति—तस्मादित्यादिना ॥ ४ ॥

यस्मादिहेवाऽऽत्मनो दर्शनमादर्शस्थस्येव मुखस्य स्पष्टमुपपद्यते न  
लोकान्तरेषु ब्रह्मलोकादन्यत्र । स च दुष्प्रापः । कथमित्युच्यते—

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।

यथाऽप्सु परीव दृश्ये तथा गन्धर्वलोके छायातप-

योरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

यथाऽऽदर्शे प्रतिबिम्बभूतमात्मानं पश्यति लोकोऽत्यन्तविविक्तं तथे-  
हाऽऽत्मनि स्वबुद्धावादर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तमात्मनो दर्शनं भव-  
तीत्यर्थः । यथा स्वप्नेऽविविक्तं जाग्रदासनोद्भवं तथा पितृलोकेऽविवि-  
क्तमेव × दर्शनमात्मनः कर्मफलोपभोगासक्तत्वात् । यथा चाप्स्ववि-  
भक्तावयवमात्मरूपं परीव दृश्ये परिदृश्यत इव तथा गन्धर्वलोकेऽवि-  
विक्तमेव दर्शनमात्मनः । एवं च लोकान्तरेष्वपि शास्त्रप्रामाण्यादवग-  
म्यते । छायातपयोरिवात्यन्तविविक्तं ब्रह्मलोक एवैकस्मिन् । स च  
दुष्प्रापोऽत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्यत्वात् । तस्मादात्मदर्शनायेहैव यत्नः  
कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

आ० टी०—॥ ५ ॥

गो० टी०—यथाऽऽदर्श इत्यादिवाक्यं व्याख्यातुं पातनिकामाह—यस्मादित्य

× दर्शनमात्मन इति ग्रन्थः क्वचिन्न स्यादिति तद्विधानुरोधेन ज्ञायते ।

१ क. ख. ज. 'मेवाऽऽत्मनो दर्शनं क' । २ झ. अ. ट. यथाऽप्स्व' । ३ क. ड. च. 'वाऽप्स्व' । ४ ग. ह. परिद' । ५ झ. अ. ट. 'केऽविभक्त' । ६ ग. घ. च. 'वं लो' । ७ क. ख. 'अस्मिन्नि' । ८ क. ख. ज. 'यत्नः' ।



दिना । इहैव मनुष्यदेह एव । यथाऽऽदर्शस्थस्य मुखस्य स्पष्टमुपलब्धिस्तथाऽऽत्मानि स्पष्टमुपलभ्यते तस्मादिहैवाऽऽत्मनो दर्शनमित्यन्वयः । एवकारव्यावृत्तं माह—नेति । तर्हि ब्रह्मलोकेऽपि तद्दर्शनं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति ननु तर्हि ब्रह्मलोक एवाऽऽत्मनो दर्शनं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स चेति । आकाशापूर्वकमवतारितवाक्यं व्याचष्टे—कथमित्यादिना । स्वप्न इत्यत्राविविक्तमिदं पदच्छेदः । पितृलोक आत्मदर्शनामिति शेषः । पितृलोके दर्शनस्याविविक्तत्वे हेतुमाह—कर्मफलेति । गन्धर्वलोकग्रहणमुपलक्षणमित्याह—एवमिति । एकस्मिन्नात्मदर्शनामित्यनुवर्तते । दुष्प्रापत्वे हेतुमाह—अत्यन्तेति । विशिष्टं कर्माश्रमेधादि तत्सहिज्ञानमुपासनं तत्साध्यत्वादित्यर्थः । पदतात्पर्यार्थमाह—तस्मादिति । इहैव मनुष्यशरीर एव ॥ ५ ॥

कथमसौ बोद्धव्यः किं वा तदबोधे प्रयोजनमित्युच्यते—

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।

पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषयग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्य आकाशादिभ्यः पृथगुत्पद्यमानानामत्यन्तविशुद्धात्केवलाच्चिन्मात्रात्मस्वरूपात्पृथग्भावं स्वभावविलक्षणात्मकतां तथा तेषामेवेन्द्रियाणामुदयास्तमयौ चोत्पत्तिप्रलयौ जाग्रत्स्वाप्नावस्थापेक्षया नाऽऽत्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरो धीमान् शोचति । आत्मनो नित्यैकस्वभावंस्याद्वयभिचाराच्छ्लोककारणत्वानुपपत्तेः । तथा च श्रुत्यन्तरं—तरति शोकमात्मविदिति ॥ ६ ॥

आ० टी०—॥ ६ ॥

गो० टी०—उत्तरं वाक्यमाकाशापूर्वकं योजयति—कथमित्यादिना । इन्द्रियग्रहणमुपलक्षणमित्याह—स्वविषयेति । विषयाः शब्दादयस्तेषां ग्रहणमेव प्रयोजनेन सहेत्यर्थः । इन्द्रियाणां नित्यत्वं व्यावर्तयति—आकाशेति । पृथग्भावप्रतियोगिनिर्दिशति—अत्यन्तेति । विलक्षणात्मकतां मत्वेत्यन्वयः । एवमुत्पत्तिप्रलयौ मत्वेत्यन्वयः । मननप्रकारं दर्शयति—जाग्रदिति । नाऽऽत्मनस्ताविति मत्वेति संबन्धः

१ ग. ङ. च. झ. अ. ठ. स्ववि° । २ ग. घ. ङ. °दिभ्य उत्प° । ३ ङ. झ. अ. ट. °न्तश्च । ४ ग. घ. च. °त्मकस्व° । ५ क. ख. ज. °यौ च यत्पृथगुत्पद्यमानानामुत्प° । ६ क. ख. च. °धी च ना° । ७ ङ. झ. अ. ट. °पापे° । ८ क. ख. ज. °कत्वस्या° । ९ क. च. °ज्ञत्वादव्य° । १० क. ख. घ. ज. °च्छ्लोकादिका° । ११ अ. ट. °ति । आत्म° ।

उत्पत्तिप्रलयौ जाग्रत्स्वप्नावस्थापेक्षया नाऽऽत्मन इति पाठान्तरं सुगमम् । ज्ञाने साध-  
नमाह—विवेकत इति । धीमान्प्रत्यग्ब्रह्मैक्यपर्यवसन्नमतिः । शोकाभावे हेतुमाह—  
आत्मन इति ॥ ६ ॥

यस्मादात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नासौ बहिरधिगन्तव्यो  
यस्मात्प्रत्यगात्मा स सर्वस्य, तत्कथमित्युच्यते—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।

सत्त्वादाधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि । अर्थानामिहेन्द्रियसमानजातीयत्वादि-  
न्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणम् । पूर्ववदन्यत् । सत्त्वंशब्दाद्बुद्धिरिह ॥ ७ ॥

आ० टी०—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इति पूर्वमुक्तमिह त्वर्थानामग्रहणात्सर्वप्रत्य-  
गात्मत्वं न संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—अर्थानामिहेति ॥ ७ ॥

गो० टी०—साध्याहारमुदयास्तमयौ च यदित्यत्र यच्छब्दं व्याचष्टे—यस्मादिति ।  
तस्मान्नासौ बहिरव(धि)गन्तव्य इत्यर्थः । प्रवारान्तरेण व्याचष्टे—यस्मादिति । सर्व-  
स्येति । तामन्न बहिरव(धि)गन्तव्यः । किंतु प्रत्यक्त्वेनैवात्रगन्तव्य इति शेषः ।  
तदिति पृथग्भावप्रत्यक्त्वे । इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इति पूर्वमुक्तमिह त्वग्रहणात्सर्व-  
प्रत्यगात्मत्वं न संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—अर्थानामिहेति । पूर्ववदन्यदिति । अन्य-  
त्परत्वाद्युपवर्णनम् । पूर्ववदिन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इतिवशाख्यानवदित्यर्थः ॥ ७ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च । यं

ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्याप्याकाशादेः सर्वस्य  
कारणत्वात् । अलिङ्गो लिङ्ग्यते गम्यते येन ताल्लिङ्गं बुद्ध्यादि तद-  
विद्यमानमस्येति सोऽयमलिङ्ग एव । सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत् ।  
यं ज्ञात्वाऽऽचार्यतः शास्त्रतश्च मुच्यते जन्तुरविद्यादिहृदयग्रन्थिभिर्जीव-  
न्नेव पतितेऽपि शरीरेऽमृतत्वं च गच्छति । सोऽलिङ्गः परोऽव्यक्तात्पु-  
रुष इति पूर्वैव संबन्धः ॥ ८ ॥

१ क. ड. °रमा सर्व° । २ ग. घ. च. °स्य कथ° । ३ क. °रिहोच्यते । ७ । ४ ग. च.  
तत्करणं लिङ्गं । ५ घ. °ङ्गं करणं बु° । ६ क. ख. ज. °व च । स° । ७ च. परो ह्यव्य° । ८ क.  
°वेत्त सं° ।

आ० टी०—बुद्धिसुखदुःखादिः साश्रयो गुणत्वाद्वूपवदिति वैशेषिका अनुमिमते । दसत् । साश्रयत्वमात्रसाधने सिद्धसाधनत्वान्मनस एव कामादिगुणवत्त्वश्रवणादात्मा-  
प्रयत्वकल्पने च निर्गुणत्वशास्त्रविरुद्धत्वादात्मना सह बुद्ध्यादेरविनाभावग्रहणाच्च  
बुद्ध्यादि नाऽऽत्मलिङ्गमित्याह—लिङ्ग्यते गम्यते येनेति ॥ ८ ॥

गो० टी०—व्यापकत्वे हेतुमाह—व्यापकस्येति । बुद्ध्यादि साश्रयं गुणत्वा-  
द्वूपवदिति वैशेषिका अनुमिमते तदसत्साश्रयत्वसाधने सिद्धसाधनत्वान्मनस एव  
कामादिगुणवत्त्वश्रवणादात्माश्रयत्वकल्पने च निर्गुणवत्प्रतिपादकशास्त्रविरोधादात्मना  
सह बुद्ध्यादेरविनाभावग्रहणाच्च न बुद्ध्याद्यात्मलिङ्गमित्याह—लिङ्ग्यते गम्यते  
येनेति । मुच्यतेऽमृतत्वं च गच्छतीति वाक्ययोः पौनरुक्त्यं परिहरन्व्याचष्टे—यं  
त्वेत्यादिना ॥ ८ ॥

कथं तर्ह्यलिङ्गस्य दर्शनमुपपद्यत इत्युच्यते—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्च-

नैनम् । हृदा मनीषा मनसाऽभिवृत्तो य एतद्वि-

दुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

न संदृशे संदर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम् । अतो  
न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण । चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात् । पश्यति नोपल-  
भते कश्चन कश्चिदप्येनं प्रकृतमात्मानम् । कथं तर्हि तं पश्येदित्युच्यते-  
हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या । मनीषा मनसः संकल्पादिरूपस्येष्टे नियन्तृत्वे-  
नेति मनीष् तया हृदा मनीषाऽभिवृत्तयिज्ञया । मनसा मननरूपेण  
सम्यग्दर्शनेन । अभिवृत्तोऽभिसमर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत् । आत्मा  
ज्ञातुं शक्यत इति वाक्यशेषः । तमात्मानं ब्रह्मतये विदुरमृतास्ते  
भवन्ति ॥ ९ ॥

आ० टी०—कथं दर्शनमुपपद्यत इति प्रष्टुः कोऽभिप्रायः किं विषयतया दर्शनं  
वक्तव्यमृताविषयतयैव दर्शनोपायो वाच्यः प्रथमं प्रत्याह—न संदृश इति । रूपा-  
देमत्तद्विशेषणं च दर्शनविषययोग्यं भवति तदभावादित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह—कथं  
। हीति । बाह्यकरणग्रामोपरमेऽपि यदा मनो विषयान्संकल्पयते तदा मुमुक्षोर्बुद्धिस्तस्य  
नेयन्त्री भवति । हे मनः निर्मथं त्वं पिशाचवत्प्रधावासि । न तावत्स्वपयोजनार्थम् ।  
व जडत्वात्प्रयोजनसंबन्धानुपपत्तेर्विषयाणां च क्षयिष्णुत्वदिदोषदुष्टानां संबन्धेन

१ क. ख. अ. तर्हि तस्यालि° । २ क. ज. 'शे द° । ३ ड. झ. अ. ठ. 'कृतात्मा° । ४ क.  
र्हि तत्पश्ये° । ट. 'र्हि प° । ५ क. ख. ज. 'षा विकल्पवर्तितया । म° । ६ क. झ. ञ. द.  
स्य इ° ।

प्रयोजनानुपपत्तेः । नापि चेतनार्थम् । तरयासङ्गत्वात्परमानन्दस्वभावत्वाच्चेति नियन्तृत्वेन बुद्धिर्मनीडुच्यत इत्याह— मनस इति । अविषल्पयित्येति । विषय-  
कल्पनाशून्यया ब्रह्मात्मैतयविषयतयैव ब्रह्मभावव्यञ्जिकया महावाक्योत्थया बुद्धिवृत्त्या ज्ञातुं शक्यत इति संबन्धः । कथंभूत आत्मेत्यत आह—मनसेति । यद्यन्मया दृश्यते बाह्यं घटादि तत्तदहं यथा न भवामि तथाऽस्मिन्नपि संघाते यद्यद्दृश्यं तत्तदहं न भवामि किंतु योऽप्र ज्ञोऽशः सोऽस्मि सर्वशरीरेष्वेकलक्षणलक्षितत्वादेक एवेति विचारेण प्रथमं संभावित इत्यर्थः ॥ ९ ॥

गो० टी०—अलिङ्गत्वे दर्शनमनुपपन्नमिति पृच्छति—कथमिति । प्रष्टुः कोऽभि-  
प्रायः किं विषयतया दर्शनं वक्तव्यमुताविषयतयैव दर्शनोपायो वाच्य इति । प्रथमं  
प्रत्याह—न संदृश इति । अस्य प्रत्यगात्मनो रूपं न संदर्शनविषये तिष्ठतीन्वयः ।  
रूपादिमदर्शनयोग्यं भवति तदभावादिति भावः । द्वितीयं प्रत्याह—कथं तर्हीति ।  
बाह्यकरणग्रामोपरमेऽपि यदा मनो विषयान्संकरूपयते तदा मुमुक्षोर्बुद्धिस्तस्य नियन्त्री  
भवति । हे मनः किमर्थं त्वं पिशाचवद्धावसि न तावत्स्वप्रयोजनार्थं जडत्वात्प्रयोज-  
नसंबन्धानुपपत्तेर्विषयाणां च क्षयिष्णुत्वादिदोषदुष्टानां संबन्धेन प्रयोजनानुपपत्तेः । नापि  
चेतनार्थं तस्यासङ्गत्वात्परमानन्दस्वभावत्वाच्चेति नियन्तृत्वेन बुद्धिर्मनीडित्युच्यत  
इत्याह—मनस इति । अभिप्रकाशित इति । योऽप्र संघाते ज्ञोऽशः सोऽस्मि-  
न्सर्वशरीरेष्वेकलक्षणलक्षितत्वादेक एवेति विचारेण प्रथमं संभावित इत्यर्थः ॥ ९ ॥

सा हृन्मनीदृकथं प्राप्यत इति तदर्थो योग उच्यते—

यदा पश्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च  
न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

यदा अस्मिन्काले स्वविषयेभ्यो निवर्तितान्पात्मन्येव पश्चं ज्ञानानि ।  
ज्ञानार्थत्वाच्छ्रोत्रादीन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते । अवतिष्ठन्ते सह मनसा  
अदनुगतानि तेन संकल्पादिव्यावृत्तेनान्तःकरणेन । बुद्धिश्चाध्यवसायल-  
क्षणा न विचेष्टति स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्यापियते तामाहुः परमां  
गतिम् ॥ १० ॥

आ० टी०—श्रुतवेदान्तानामपि केषांचिद्ब्रह्मात्मातिबुद्धिस्थैर्यादर्शनादस्ति किंचि-  
त्प्रतिबन्धकान्तरं तदपनयोपायोऽप्यन्यो वक्तव्य इत्यभिप्रेत्याऽऽह— सा हृदिति ।  
श्रवणमननाभ्यां प्रमाप्रमेयासंभावानिरासेऽपि चित्तस्यानेकाप्रतादोषः प्रतिबन्धकः संभ-

१ ठ. 'बन्धत्वेन । २ घ. 'दथे यो' । ३ क. ख. च. 'ष्टते ता' । ४ क. ख. च. 'श्च । ज्ञानार्थ' ।  
५ क. च. 'दीनीन्द्रि' । ६ क. ख. ज. 'ष्टते स्व' । ७ क. ख. च. ज. 'न चे' ।

वति तदपनयाय योगोऽनुष्ठातव्य उपदिश्यत इत्यर्थः । यदनुगतानीति । येन येन मनसाऽधिष्ठितानि तेन तेन सहावतिष्ठन्ते निवृत्तव्यापाराणि भवन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

गो० टी० — श्रुतवेदान्तानामपि केषांचिद्ब्रह्मास्मीतिबुद्धिस्थैर्यादर्शनादस्ति प्रतिबन्धान्तरं तदपनयनायान्योऽप्युपायो वक्तव्य इत्याह—सा हृन्मनीडिति । श्रवणमननाभ्यां प्रमेयासंभावनानिरासेऽपि चित्तस्यानेकाग्रतादोषः प्रतिबन्धकः संभवाति तदपनयनाय योगोऽनुष्ठेय उपदिश्यत इत्यर्थः । ज्ञायतेऽनेनार्थ इति व्युत्पत्त्या ज्ञानशब्देन श्रोत्राद्युच्यत इत्याह—ज्ञानेति । यदनुगतानि संकल्पाद्यात्मकं यदन्तःकरणं तेनानुगतानि तेनान्तःकरणेन सहावतिष्ठन्ते निवृत्तव्यापाराणि भवन्तीत्यन्वयः । बुद्धिश्चेति । येन येनेन्द्रियेण सहकृता विषयपरिच्छेदाय प्रभवति तेन तेन सहावतिष्ठते निवृत्तव्यापारा भवतीत्यर्थश्चकाराद्भ्रम्यते । परमां गतिमिति । उत्कृष्टफलसाधनत्वात्परमत्वम् ॥ १० ॥

तां \* योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

तामीदृशीं तवदस्यां योगमिति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम् । सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः । एतस्यां ह्यवस्थायामविद्याधारोपणवर्जितस्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा । स्थिरामिन्द्रियधारणां स्थिरामचलामिन्द्रियधारणां बाह्यान्तःकरणानां धारणमित्यर्थः । अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति निरर्थं यत्नवांस्तदा तस्मिन्काले यदैव प्रवृत्तयोगो भवतीति सामर्थ्यादवगम्यते । न हि बुद्ध्यादिचेष्टाभावे प्रमादसंभवोऽस्ति । तस्मात्प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टोपरमादप्रमादो विधीयते । अथवा येदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा तदानीमेव निरङ्कुशमप्रमत्तत्वमित्यतोऽभिधीयतेऽप्रमत्तस्तदा भवतीति । कुतः । योगो हि यस्मात्प्रभवाप्ययावुपजनापायधर्मक इत्यर्थोऽतोऽपायपरिहारायाप्रमादः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

आ० टी०—वियोगमेव सन्तं योगमिति विरुद्धलक्षणया मन्यन्त इत्युक्तं तत्स्फुटयति—सर्वानर्थेति । उपसंहृतं मनो यदि सुषुप्तं गच्छेत्तदा साऽनर्थबीजावस्था

\* छान्दसत्वात्साधुत्वम् । = टीकायां संयोगपदोल्लेखो नास्ति । संयोगपूर्वको वियोग इति विप्रहो भवेत् ।

१ झ. अ. ट. 'दृशीमव' । २ ड. अ. ट. 'र्जितः स्व' । ३ झ. अ. ट. 'रणामव' । ४ क. झ. ज. 'लं प्रय' । ५ अ. ट. 'तो विधी' । ६ घ 'जनपा' ।

भवति । तद्व्यावृत्तये पूर्णं ब्रह्माभ्यावृत्तौ योजयेदावृत्तौ नियुक्तं विषयेषु विक्षिप्तं चेत्स्यात्तद्दोषदर्शनेन ततोऽपि व्यावर्तयेत् । व्यावृत्तमपि ततस्तदस्थं चेत्स्यात्साऽपि व्यावृत्तकषायावस्था ततो निरुद्धं मनो यदा न जागर्ति न स्वपिति न चान्तरालावस्थं भवति पूर्णब्रह्मावभासकतयैव क्षीणं भवति तदा सर्वानर्थवियोगलक्षणा साऽवस्था भवतीत्यर्थः । योगारम्भकाले प्रमादवर्जनं विधेयतया व्याख्यायानुवादपरतया व्याचष्टे— अथवेति । विधिपक्षे हेतुं पृच्छति— कुत इति ॥ ११ ॥

गो० टी०— वियोगमेव सन्तं योगमिति विरुद्धलक्षणया मन्यन्त इत्युक्तं तत्स्फुटयति— सर्वानर्थेति । यद्दृष्ट्वाहं घटादि तत्तदहं न भवामि यथा तथाऽस्मिन्नपि संघाते यद्दृश्यं तत्तदहं न भवामि किंतु पूर्णं ब्रह्माभ्यावृत्तौ चित्तं योजयेत्तच्चित्तं विषयेषु विक्षिप्तं चेत्स्याद्विषयदोषदर्शनेन व्यावर्तयेद्व्यावृत्तं रागादिमञ्चेत्स्यात्साऽपि कषायावस्था ततो निरुद्धं मनो यदा न जागर्ति न स्वपिति न चान्तरालावस्थं भवति न च रसस्वादयुक्तं पूर्णब्रह्मावभासकतयैव क्षीणं भवति तदा सर्वेभ्योऽनर्थो वियोगोऽसंबन्ध एवं(व) लक्षणं स्वरूपं यस्याः सा तादृशी भवतीत्यर्थः । हिशब्दो वेदान्तप्रसिद्धचवद्वोक्तकः । अस्या अवस्थायाः प्रयोजनमाह— एतस्यामिति । लयविक्षेपकषायरसस्वादवर्जितायाम् । आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति शेषः । कथंभूत आत्मेत्यत आह— अविद्याध्यारोपणेति । क्वचिदविद्याध्यारोपणवर्जिता स्वरूपप्रतिष्ठाऽऽत्मन इति पाठान्तरम् । पूर्वोक्तामवस्थां विशिनष्टि— स्थिरामिति । योगारम्भकाले प्रमादवर्जनं श्रुतिर्विधत्त इत्याह— अपमत्त इति । सामर्थ्यादिति । प्रमादवर्जनमन्तरा योगस्य दुष्प्रापत्वादित्यर्थः । ननु योगोत्तरकालमेवाप्रमादो विधीयतामित्याशङ्क्याऽऽह— न हीत्यादिना । अभाव इति पदच्छेदः । योगारम्भकाले प्रमादवर्जनं विधेयतया व्याख्यायानुवादपरतया व्याचष्टे— अथवेति । विधिपक्षे हेतुं पृच्छति— कुत इति ॥ ११ ॥

बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेद्ब्रह्मेदं तदिति विशेषतो गृह्येत बुद्ध्याद्युपरमे च ग्रहणकारणाभावादानुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म । यदि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके विपरीतं चासदित्यतश्चानर्थको योगोऽनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्तीत्युपलब्धव्यं ब्रह्मेत्येवं प्राप्त इदमुच्यते । सत्यम्—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥

नैव वाचां न मनसां न चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यत इत्यर्थः ।  
तथाऽपि सर्वविशेषरहितोऽपि जगतो मूलमित्थवगतत्वादस्त्येव कार्यप-  
विलापनस्यास्तित्वनिष्ठत्वात् । तथा हीदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्ये-  
णानुगम्यमानं सद्बुद्धिनिष्ठाभेवावगमयति । यदाऽपि विषयपविलापनेन  
प्रविलाप्यमाना बुद्धिस्तदाऽपि सा सत्प्रत्ययगर्भैव विलीयते बुद्धिर्हि नः  
प्रमाणं सदसतोर्थात्प्रावगमे । मूलं चेज्जगतो न स्यादसदन्वितमेवेदं  
कार्यमसदित्येवं गृह्येत न त्वेतदस्ति सत्सदित्येव तु गृह्यते । यथा मृदा-  
दिकार्यं घटादि मृदाद्यन्वितम् । तस्माज्जगतो मूलमात्माऽस्तीत्येवोपल-  
ब्धव्यः । कस्मात् । अस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्ववादिन आगमार्थानुसारिणः  
श्रद्धधानादन्यत्र नास्तिकवादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं  
कार्यमभावान्तं भविलीयत इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि कथं तद्ब्रह्म  
तत्त्वत उपलभ्यते न कथंचनोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

आ० टी०—उत्तरमन्त्रमवतारयितुं शङ्कामुद्भावावयति—बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चे-  
दिति । घटोऽस्तीति प्रतिपन्नस्य घटस्य मुद्गराभिघाताद्विलापने घटाकार एव विलीयते  
नास्तित्वांशस्तस्य कपालादावप्यनुवृत्तिदर्शनात् । अतः कार्यपविलापनस्यास्तित्वनि-  
ष्ठत्वान्न शून्यतापर्यवसायी लय इत्युक्तमेतत्स्फुटयति—तथा हीति । स्थूलस्य कार्यस्य  
विलये सूक्ष्मं तत्कारणमवशिष्यते तस्यापि विलये ततः सूक्ष्ममिति यददर्शनव्याप्ति-  
मुपलभ्य यत्र न दृश्यते तत्रापि मूर्तविलयस्यावश्यंभावित्वात्सन्मात्रमेवामूर्तमवतिष्ठत  
इति कार्यमेव सौ (सू)क्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुश्रियमाणं सद्बुद्धिनिष्ठां पुरुषस्य  
ग( षस्यावग )मयतीत्यर्थः । ननु यद्दृश्यं तदसद्यथा स्वप्नदर्शनमिति वशात्सिदर्श-  
नादस्तित्वेन दृश्यस्यासत्त्वात्सद्बुद्धिरपि नास्त्येवेत्याशङ्क्याऽऽह—यदाऽपीति ।  
सद्बुद्धिरपि नास्तीत्येवंभूतः प्रत्ययोऽवश्यमस्तीत्यभ्युगन्तव्यम् । अन्यथा निषेधव्य-  
वहारायोगात् । अतोऽन्ततो गत्वा सद्बुद्धिः स्वीकृता स्यादित्यर्थः । ततः किमि-  
त्यत आह—बुद्धिर्हीति । व्यभिचारिष्वपि विषयेषु सन्मात्रबुद्धेरव्याभिचारदर्शना-  
द्बुद्धेश्च स्वतः प्रामाण्यात्सन्मात्रं वस्त्वभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः । इतश्च सदेव मूलं  
जगतो वाच्यमित्याह—मूलं चेदिति । नास्ति जगतो मूलं ब्रह्मेत्यवगमेऽपि प्रतियो-  
गिनया ब्रह्मज्ञानसंभवात्किमिति मुमुक्षुणा ब्रह्मज्ञानकामेनास्तीत्येवोपलब्धव्यमित्याह—

१ क. ह. ट. °चा वा म° । २ झ. ज. °सा च° । ३ झ. अ. ट. °तथा हि स° । ४ घ.  
°विलयस्या° । ५ घ. ड. झ. अ. ट. ठ. तत्र ही° । ग. तथा हि तत्र ही° । ६ ख. ड. झ. ट.  
सत्यप्रत्य° । ७ क. च ट. °गर्भेव । ८ ग. घ. च. ज. °सदसदि° । ९ ग. घ. मृदसत्त्वे का° । १०  
क. ख. ज. °व्यव्यम् । क° । ११ ग. घ. च. °स्तिवा° । १२ क. झ. अ. ट. प्रली° । १३ झ.  
म. ट. °ह्यतत्त्वमुप° ।

कस्मादिति । प्रतियोगितया ज्ञानस्य निषेध्यत्वादात्मतया ज्ञानं न स्यादतो ब्रह्म-  
ज्ञानकामेनास्ति जगन्मूलमित्यवगन्तव्यमेवेत्याह—अस्तीति ब्रुवत इत्यादिना ॥ १२ ॥

गो० टी०—उत्तरमन्त्रमवतारयितुं शङ्कामुद्गावयति—बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेदिति ।  
घटोऽस्तीति प्रतिपन्नस्य घटस्य मुद्गरप्रहाराद्विलापने घटाकार एव प्रविलीयते नास्ति-  
त्वांशस्तस्य कपालादावप्यनुवृत्तिदर्शनादतः कार्यप्रविलापस्यास्तित्वनिष्ठत्वान्न शून्य-  
तापर्यवसायी लय इत्युक्तमेतत्स्फुटयति—तथा हीति । स्थूलस्य वार्यस्य विलये  
सूक्ष्मं तत्कारणमवशिष्यते तस्यापि विलये ततः सूक्ष्ममिति यावद्दर्शनव्याप्तिमुपलभ्य  
यत्र न दृश्यते तत्राप्यमूर्तविषयत्वावश्यंभावित्वात्सन्मात्रमेवामूर्तमवतिष्ठत इति कार्य-  
मेव सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुभूयमानं सत्त्वबुद्धिनिष्ठां पुरुषस्य ग( षस्यावग )-  
मयतीत्यर्थः । ननु यद्दृश्यं तदसद्यथा स्वप्नदृश्यामिति व्याप्तिदर्शनादस्तित्वेन दृश्यस्य  
सर्वस्यासत्त्वाद्बुद्धिरपि नास्त्येवेत्याशङ्क्याऽऽह—यदाऽपीति । सद्बुद्धिरपि  
नास्तीत्येवं प्रत्ययोऽवश्यमभ्युपगन्तव्योऽन्यथा निषेधव्यवहागयोगात् । अन्ततो गत्वा  
सद्बुद्धिः स्वीकृता स्यादित्यर्थः । ततः किमित्यत आह—बुद्धिर्हीति । व्यभिचारि-  
प्यपि विशेषेषु सन्मात्रबुद्धेरव्यभिचारदर्शनाद्बुद्धेश्च स्वतः प्रामाण्यात्सन्मात्रं वस्त्व-  
भ्युपगन्तव्यमित्यर्थः । इतश्च सदेव जगतो मूलं वाच्यमित्याह—मूलं चेदिति । ननु  
नास्ति यज्जगतो मूलं ब्रह्मेत्यवगमेऽपि प्रतियोगितया ब्रह्मज्ञानसंभवात्किमिति मुमुक्षुणा  
ब्रह्मज्ञानकामेनास्तीत्येषोपलब्धव्यमित्यत आह—त( क )स्मादिति । प्रतियोतया  
ज्ञानस्य निषिद्धत्वादात्मतया ज्ञानं न स्यादतो ब्रह्मज्ञानकामेनास्ति मूलं जगत इत्य-  
वगन्तव्यमित्याह—अस्तीति ब्रुवत इत्यादिना । तस्मादस्तीति ब्रुवत इति पाठ-  
स्त्वनाख्यः ॥ १२ ॥

अस्तीत्येषोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।

अस्तीत्येषोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥

तस्मादपोह्यासद्वादिपक्षमासुरमस्तीत्येषाऽऽत्मोपलब्धव्यः सत्कार्यो  
बुद्ध्याद्युपाधिः । यदा तु तद्रहितोऽविक्रिय आत्मा कार्यं च कारणव्य-  
तिरेकेण नास्ति वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति  
श्रुतेस्तदा तस्य निरुपाधिकस्यालिङ्गस्य सदसदादिप्रत्ययविषयत्वव-  
र्जितस्याऽऽत्मनस्तत्त्वभावो भवति । तेन च रूपेणाऽऽत्मोपलब्धव्य  
इत्यनुवर्तते । तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोस्तित्वतत्त्वभा-

१ क. ज्ञ. अ. ट. 'त्येषोप' । २ ख. ज. 'व्यव्यस्तत्त्वभावेन च स' । ३ क. 'योस्तद्भाव' ।  
ग. घ. 'योर्नास्तित्वभा' ।



वसोः । निर्धारणार्था षष्ठी । पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्याऽऽत्मनः सस्का-  
 र्शोपाधिकृतास्त्वित्त्वप्रत्ययेनोपलब्धस्येत्यर्थः । पश्चात्प्रत्यस्तमितसर्वोपा-  
 धिकृप आत्मनस्तस्व नामो विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्वयस्वमाधो नेति  
 नेतीत्यस्युल्लमनण्वहस्वमदृश्येऽनात्म्येऽनिलयन इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टः  
 प्रसीदस्याभिमुखी भवति । आत्मप्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत्  
 इत्येतत् ॥ १३ ॥

आ० टी०—सोपाधिकस्याऽऽत्मनो ज्ञानान्मुक्त्यसंभवान्निरुपाधिकज्ञानायापि प्रय-  
 तितव्यमित्याह—यदा त्विति । सोपाधिके प्रथमं स्थिरीभूतस्य तद्द्वारेण लक्ष्यप-  
 दार्थावगमे सति क्रमेण वाक्यार्थावगतिः संभाव्यत इत्याह—तत्राप्युभयोरित्या-  
 दिना । सदुपलभ्यमानं कार्यमुपाधिर्यस्य कारणत्वस्य तत्कृतो योऽस्त्वित्त्वप्रत्ययः  
 कारणत्वादास्ति पर आत्मेति तेनोपलब्धस्येति योजना ॥ १३ ॥

गो० टी०—सोपाधिकस्याऽऽत्मनो ज्ञानान्मुक्त्यसंभवान्निरुपाधिकज्ञानाय प्रयति-  
 तव्यमित्याह—यदा त्विति । सोपाधिकस्य प्रथमं स्थिरीभूतस्य तद्द्वारेण लक्ष्यपदा-  
 र्थावगमे सति क्रमेण वाक्यार्थावगमः संभवतीत्याह—तत्राप्युभयोरित्यादिना । सदु-  
 पलभ्यमानं कार्यमुपाधिर्यस्य कारणत्वस्य तत्कृतोऽस्त्वित्त्वप्रत्ययः कारणत्वादास्ति पर  
 आत्मेत्युपलब्धस्येति योजना ॥ १३ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

एवं परमार्थदर्शिनो यदा यस्मिन्काले सर्वे कामाः कामयितव्यस्या-  
 स्यस्याभावात्प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते येऽस्य प्राक्प्रबोधाद्विदुषो हृदि  
 बुद्धौ श्रिता आश्रिताः । बुद्धिर्हि कामानामाश्रयो नाऽऽत्मा । कामाः संकल्प  
 इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च । अथ तदा मर्त्यः प्राक्प्रबोधादासीत्सं प्रबोधोत्तरकाल-  
 मविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति, गमनप्रयोजकस्य  
 मृत्योर्विनाशाद्गमनानुपपत्तेरत्रैव मदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमाद्ब्रह्म  
 समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

१ क. ख. ज. नेति ह्यस्यु । २ ग. घ. च. श्रुतेर्निर्दि । ३ ग. घ. च. मात्मद । ४ ग. घ.  
 च. व्यस्याभा । ५ झ. व. ट. त्त बो । ६ क. घ. स्य वा मृ । ७ ख. ज. पत्ते । तेनेह ।

आ० टी०—सर्वे कामा इति । प्रवृत्तफलकर्मोपस्थापिते शरीरस्थितिनिमित्तान्नपानादौ प्रवृत्तिकारणेच्छाव्यतिरिक्ताः सर्वे कामाः काम्येन ज्योतिष्टोमादिना स्वर्गं प्राप्स्यामि त्रैपुर्या(रा)राधनेन जनं वशी करिष्यामीत्येवमादयः स्वर्गादिदेहेष्वप्यहमेव तिष्ठामि तद्भोगश्च प्राप्ता एवाप्राप्तविषयश्च कामो व्यर्थो मिथ्या चासाविति विचारेण विशीर्यन्त इत्यर्थः । कामाश्रय आत्मेति वैशेषिकमतं श्रुतिबाह्यत्वान्नाऽऽदरणीयमेवेत्याह—बुद्धिर्हीति ॥ १४ ॥

गो० टी०—सर्वे कामा इति । प्रवृत्तकर्मतत्फलोपस्थापिते शारीरस्थितिनिमित्तान्नपानादौ प्रवृत्तिकारणेच्छाव्यतिरिक्ताः सर्वे कामाः काम्येन ज्योतिष्टोमादिना स्वर्गं प्राप्स्यामीति त्रिपुर्याराराधनेन जनं च वशी करिष्यामीत्येवमादयः स्वर्गादिदेहेष्वहमेव तिष्ठामि भोगश्च प्राप्ते विषयेऽप्राप्तविषयश्च कामो व्यर्थो मिथ्या चासाविति विचारेण विशीर्यन्त इत्यर्थः । कामाद्याश्रय आत्मेति वैशेषिकमतं श्रुतिबाह्यत्वादानादरणीयमित्याह—बुद्धिर्हीति ॥ १४ ॥

कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश इत्युच्यते—

यदा सर्वे प्रभियन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः । अथ

मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्येतावदनुशासनम् ॥ १५ ॥

यदा सर्वे प्रभियन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद्दृढबन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः । अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी चाहमित्येवमादिलक्षणास्ताद्विपरीतब्रह्मात्मप्रत्ययोपजननाद्ब्रह्मैवाहमस्म्यसंसारितीति विनष्टेष्वविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्येतावदेवैतावन्मात्रं नाधिकमस्तीत्याशङ्कना कर्तव्या । अनुशासनमनुशिष्टिरुपदेशः सर्ववेदान्तानामिति वाक्यशेषः ॥ १५ ॥

आ० टी०—कामप्रविलयस्य सुषुप्तेऽपि भावादमृतत्वाचिह्नत्वं न भवतीति मर्त्वाऽऽह—कदा पुनरिति ।

१ अ. ठ. °ते शरी° । २ ठ. °षये भोगोऽप्रा° । ३ ट. °लेतद्ब्रह्ममुपात° । ४ क. छ. झ. ङ. °वदनु° । ५ ड. झ. ञ. °मज्ञाना° । ६ ड. झ. ञ. ट. °ह्येतावदनु° । ७ झ. ञ. ट. °मित्तिकाः

गो० टी०—कामप्रविलयस्य सुषुप्तेऽपि भावादमृतत्वज्ञापकत्वं न संभवतीति मत्वाऽऽह—कदा पुनरिति । अविद्याप्रत्ययान्विशिनष्टि-अहमिदमित्यादिना । आत्मप्रत्ययेन तन्नाशं दर्शयन्कामोच्छित्तिमाह—तद्विपरीतेत्यादिना । इति प्रत्ययोप-जननादिति संबन्धः । अथ तदेत्यर्थः । उपादेश्यत इति व्युत्पत्त्या प्रत्यगाभिन्नः परमात्माऽभिधीयते ॥ १५ ॥

निरस्ताशेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मपतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्र-  
न्येर्जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यत इत्युक्तमत्र ब्रह्म सम-  
श्रुत इत्युक्तत्वान्न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव स-ब्रह्माप्येतीति  
श्रुत्यन्तराच्च । ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरंशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजो  
ये च तद्विपरीताः संसारभाजस्तेषामेष गतिविशेष उच्यते प्रकृतोत्कृष्ट-  
ब्रह्मविद्याफलस्तुतये । किंचान्यदग्निविद्या पृष्टा प्रत्युक्ता च । तस्याश्च  
फलप्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इति मन्त्रारम्भः । तत्र —

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमतिनिः-  
सृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या  
उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥

शतं च शतसंख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषश्च हृदयाद्विनिः-  
सृता नाड्यः शिरास्तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वाऽभिनिःसृता निर्गता  
सुषुम्ना नाम । तयाऽन्तकाले हृदय आत्मानं बशीकृत्य योजयेत् । तया  
नाड्योर्ध्वमुपर्यायन्गच्छन्नादित्यद्वारेणामृतत्वममरणधर्मत्वमापेक्षिकम् ।  
आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यत इति स्मृतेः ब्रह्मर्णा वा सह  
कालान्तरेण मुख्यममृतत्वमेति भुक्त्वा भोगाननुपमान्ब्रह्मलोकगतान् ।  
विष्वङ्ङनानाविधगतयोऽन्या नाड्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसारप-  
तिपत्त्यर्था एव भवन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

आ० टी०—प्रकरणाविच्छेदेनोक्तस्य संबन्धं दर्शयति—निरस्ताशेषेत्यादिना ।  
यदभाणि भास्करेण प्रकरणाद्ब्रह्माभिद्विषयैवेयं गतिरिति तदसद्भातेश्रवणेन लिङ्गेन परि-

च्छिन्ने गमनयोगेऽभ्या गतेः संबन्धावगमे सति दुर्बलेन प्रकरणेन प्रकृतब्रह्मवित्संबन्धानुपपत्तेः । नान्यन्तराणामपि तत्संबन्धप्रसङ्गाच्छ्रुतिविरुद्धत्वप्रसङ्गाच्च । विस्तरश्च प्रकटार्थे द्रष्टव्यः ॥ १९ ॥

गो० टी०--प्रकरणविच्छेदोक्तस्य संबन्धं दर्शयति--निरस्ताशेषेभ्योऽहिना । निरस्ता अशेषविशेषा यस्मात्तथा तच्च तद्व्यापि च तदेव ब्रह्म तस्याऽऽत्मत्वेन प्रतिपत्तिरुपलब्धिस्तथा, प्रसिद्धाः समस्ता आविद्याकर्मकर्मदय एव ग्रन्थो यस्मात्स तथोक्तस्तस्य ॥ १९ ॥

इदानीं सर्वषष्ठ्यर्थोपसंहारार्थमाह--

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये  
संनिविष्टः । तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां  
धैर्येण ॥ तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृत-  
मिति ॥ १७ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां संबन्धिनि हृदये संनिविष्टो यथाव्याख्यातस्तं स्वादात्मीवाच्छरीरात्प्रवृहेदुद्यच्छेन्निष्कर्षेणैतद्यवकुर्यादित्यर्थः । किमिवेत्युच्यते--मुञ्जादिवेषीकामन्त्रः स्यात् धैर्येणापमादेन । तं वशीकामिच्छुक्रं चिन्मात्रं विद्याद्विजानीयाच्छुक्रममृतं यथोक्तं ब्रह्मेति । द्विर्वचनमुपनिषत्परिसमाप्त्यर्थमिति शब्दश्च ॥ १७ ॥

आ० टी०--॥ १७ ॥

गो० टी०--॥ १७ ॥

विद्यास्तुत्यर्थोऽवमारुयायिकार्थोपसंहारोऽधुनोच्यते--

मृत्युप्रोक्तां नाचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योग-  
विधिं च कृत्स्नम् । ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युर-  
न्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८ ॥

मृत्युप्रोक्तां यथोक्तमेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं च कृत्स्नं समस्तं

१ ख. ग. ज. 'तं शुक्रं' । २ क. ख. ज. 'निष्कर्षेण पृथ' । झ. म. ट. 'निष्कृष्येदि' ।  
३ ख. ग. 'तं शुक्रममृतं य' । ४ क. झ. 'क्तां नवि' । ५ ट. 'केता यथा ल' । ६ क. 'प्रीको

सोपकरणं सफलमित्येतत् । नाचिकेनो वरप्रदानान्मृत्योर्लब्ध्वा प्राप्ये-  
त्यर्थः । किम् । ब्रह्मप्राप्तोऽभून्मुक्तोऽभवदित्यर्थः । कश्चम् । विश्याप्राप्त्या  
विरजो विगतधर्माधर्मो विमृत्युर्विगतकामावित्रश्च सन्पूर्वमित्यर्थः । न  
केवलं नाचिकेन एवान्योऽपि नाचिके तर्वादात्माविद्ध्यात्ममेव निरुपश-  
रितं प्रत्यक्स्वरूपं प्राप्य तत्त्वमेवैत्यभिप्रायः । नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपम् ।  
तदेवमध्यात्ममेवमुक्तपकारेण वेद विजानातीत्येवंवित्सोऽपि विरजः  
सन्ब्रह्मप्राप्त्या विमृत्युर्भवतीति वाक्येष्वेषः ॥ १८ ॥

आ० टी० — आत्मानं देहमधिकृत्य वर्तत इत्यध्यात्मम् । प्रत्यक्स्वरूपमेव ब्रह्म  
प्राप्य विमृत्युर्भवति नाश्वद्रूपमर्चिरादिमार्गगम्यं प्राप्य संयोगावसानत्वादित्यर्थः ।  
एवंशठस्य विच्छेदेन सह संबन्ध एवविदिति ॥ १८ ॥

गो० टी० — आत्मानं देहमधिकृत्य वर्तत इत्यध्यात्मम् । प्रत्यक्स्वरूपमेव ब्रह्म  
प्राप्य विमृत्युर्भवति नान्यद्रूपमर्चिरादिमार्गगम्यं प्राप्य संयोगस्य वियोगावसानत्वादि-  
त्यर्थः ॥ १८ ॥

शिष्याचार्ययोः प्रमादकृतान्वाश्वेन विश्याग्रहणपतिपादननिमित्तदो-  
षप्रशमनार्थं शान्तिरुच्यते—

\* सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवा-  
वहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ १९ ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली

समाप्ता ॥ ३ ॥ ( ६ ) ।

\* इति काठकोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

\* 'सह नाववतु' इत्यस्य सर्वस्य स्थाने सह नाविति शान्तिः ॥ ३ ॥ इति ग्रन्थो वर्तते स.  
अ. ट. पुस्तकेषु । छ. पुस्तके सह नाववतु इति सर्वम् । 'इति द्वितीयाध्यायः' इत्यस्य सर्वस्य  
पथाद्वर्तते । \* इति द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली । इति छ. पुस्तके वर्तते ।

१. क. स. अ. 'तु । नाचिके' । ट. 'तु । नाचिके' । २. क. ख. ज. 'केतोऽथ व' । ३. क.  
ट. 'र्थः । किम् । ४. क. ह. स. अ. ट. 'लं नाचिके' । ५. क. स. 'पि नाचिकेतोऽथ' । अ. ट. 'पि  
नाचिके' । ६. क. ख. स. 'वद्व्या' । ७. क. ख. ज. 'मेवं नि' । ८. छ. स. अ. 'भसु' । ९. क. ख.  
ज. 'ण यो वे' । १०. व. छ. ज. स. अ. ट. 'रवा स' । ११. क. ख. ज. 'षा' । १२. क. ख. ज.  
'न्तिरभिधीयते ।

सह नात्रावामवतु पाळयतु विश्वास्वरूपप्रकाशनेन । कः । स एव परमेश्वर उपनिषत्प्रकाशितः । किंच सह नौ भुनक्तु तत्फलप्रकाशनेन नौ पाळयतु । सहैवाऽऽर्वा विश्वाकृतं वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै निष्पादयावहै । किंच तेजस्विनौ तेजस्विनोरावयोर्दधीतं तत्स्वधीतमस्तु । अथवा तेजस्वि नावावाभ्यां यदधीतं तदतीव तेजस्वि वीर्यवदस्त्वित्यर्थः । मा विद्विषावहै द्विष्याचार्यावन्योन्यं प्रमादकृतान्यायाध्ययनाध्यापनदोषनिमित्तं द्वेषं मा करवावहा इत्यर्थः । शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनं सर्वदोषोपशमनार्थमित्योमिति ॥ १९ ॥

इति काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली  
समाप्ता ॥ ३ ॥ ( ६ ) ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-  
श्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये  
द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

आ० टी०— ॥ १९ ॥

इति काठकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली  
समाप्ता ॥ ३ ॥ ( ६ ) ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञान-  
विरचिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीयाध्यायः  
समाप्तः ॥ २ ॥

गो० टी०— विश्वाग्रहणनिमित्तः शिष्यस्य दोषो विद्याप्रतिपादनं प्रदानं शिष्येभ्यस्तन्निमित्त आचार्यस्य दोषस्तदुभयप्रशमनार्थेत्यर्थः । कर्ता क इत्याकाङ्क्षायां प्रकरणादीश्वर इत्याह—स एवेति । तेजस्विनावित्येकं पदं षष्ठ्यर्थे व्याख्याय नाविति पदं छित्त्वा तृतीयार्थे व्याख्यानपूर्वकं तेजस्विपदमधीतमित्यस्य विशेषणं करोति—अथवेत्यादिना । सर्वदोषेति । अध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदोषप्रशमनार्थमित्यर्थः ।

१ ग. घ. 'तं स्वधी' । २ ख. ज. 'मित्तदोषं' । ३ क. ख. ज. 'नार्थमित्युपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ १९ ॥ इ' । ड. ज. 'नार्थमुपनिषत्समाप्त्यर्थमित्योमिति ॥ १९ ॥ ४ घ. च. ट. 'मित्युपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ १९ ॥ इ' ।

ओंशब्दो मङ्गलप्रयोजनः कृत्स्नोपनिषदर्थस्मारक इतिशब्दो भाष्यसमाप्तिद्योतनप्रयो-  
जन इति बोध्यम् ॥ १९ ॥

कठवल्लीभाष्यटीका कृता गोवलयोगिना ॥  
अनया प्रीयतां देवो दक्षिणाशामुखः शिवः ॥ १ ॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥ ३ ॥ ( ६ ) ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीमद्दालगोपालेन्द्रयतीश्वरविरचिते काठ-  
कोपनिषद्भाष्यविवरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

इति परिसमाप्तेयं सटीकाद्वयभाष्योपेता  
काठकोपनिषत् ॥













